



महावीरः सिद्धान्त और उपदेश

उपाध्याय अमर मुनि

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा.

सन्मति साहित्य रत्नमाला

६४ वाँ रत्न

महावीर ; सिद्धान्त और उपदेश

लेखक :

उपाध्याय अमरमुनि



सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा - २

पुस्तक :

महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

लेखक :

उपाध्याय अमरमुनि

प्रकाशक :

सन्मति ज्ञानपीठ

लोहामंडी - आगरा-२८२००२

शाखा : वीरायतन

राजगृह - ८०३११६ (बिहार)

संस्करण :

तृतीय : १९८६

मूल्य : छह रुपया

मुद्रक :

वीरायतन मुद्रणालय, राजगृह

उन्हें को.....!

महाश्रमण महावीर का—
प्रभास्वर जीवन - चित्र मैंने,
अनुभूति की आँखों से देखा ;
और देखा - शास्त्र एवं
इतिहास के चश्मे से भी !
दोनों का समन्वित रूप ,
जिन्हें पसन्द है, उन्हीं—
चिन्तकों को.....!

उपाध्याय अमर मुनि

पुस्तक की परिक्रमा

‘महावीर : सिद्धान्त और उपदेश’ राष्ट्रसंत कविरत्न उपाध्याय श्री अमरमुनिजी म० की अनूठी कृति है। आपने भगवान् महावीर के जीवन को शास्त्रों की कसौटी पर कस कर और अनुभव की आँच में तपा कर लिखा है। कविश्रीजी महाराज जैन - समाज के ही नहीं, भारत के लब्धप्रतिष्ठ क्रान्तदर्शी कथाशिल्पी हैं। आपकी भाषा प्राञ्जल है, भावों में प्रवाह है। आपके साहित्य की यह विशेषता है कि पाठक को पढ़ते हुए कहीं बेचैनी नहीं होती। आपका भगवान् महावीर पर विशाल चिन्तन-मनन है।

प्रस्तुत पुस्तक को आपने तीन विभागों में बाँटा है—

महावीर की जीवन-रेखाएँ

महावीर के सिद्धान्त

महावीर के उपदेश

१. **महावीर की जीवन - रेखाएँ**—इस विभाग में आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति के प्रकाश-स्तम्भ महावीर का जीवन—गृहस्थ - जीवन, साधक-जीवन और तीर्थंकर - जीवन के रूप में कविश्रीजी ने अलग-

अलग प्रस्तुत किया है। **गृहस्थ - जीवन** में भगवान् महावीर के बाल्यकाल से लेकर दीक्षा-काल से पहले तक के जीवन के विविध कथा - चित्र प्रस्तुत किए हैं, जो उनके गृहस्थाश्रम के उच्च आदर्श की भांकी प्रस्तुत करते हैं।

उसके पश्चात् महावीर के **साधक-जीवन** की अद्भुत भांकी प्रस्तुत की है, जिसमें उनके साधक-जीवन में आने वाले कष्टों, विघ्नों और उपसर्गों का वर्णन किया है तथा समता की पगडंडी पर चलते हुए वे उनमें से कैसे पार उतरते हैं? किस प्रकार अपनी तितिक्षा, तपस्या और कष्ट - सहिष्णुता का परिचय देते हैं? यह वर्णन अतीव रोमांचक है।

इसके बाद **तीर्थंकर - जीवन** में उन्हें अपनी उत्कृष्ट साधना, घोर तपश्चर्या, अभूतपूर्व समता और स्वीकृत पथ पर दृढ़गति के फलस्वरूप वीतराग और कैवल्य प्राप्त होमै का कथाचित्र उनकी साधना की परिपूर्णता की भांकी करा देता है। साथ ही उन्होंने उस समय के समाज, राष्ट्र और प्रचलित धर्मों में क्रान्ति का शंखनाद भी किया। उन्होंने समाज को केवल विचार ही नहीं दिये, चतुर्विध संघ के रूप में उसे व्यवस्थित और पुनर्गठित करके उन विचारों को आचरण में भी क्रियान्वित कराया। इसके लिए समाज और राष्ट्र में प्रचलित मूढ़ मान्यताओं से

आपको एवं संघ को डट कर लोहा लेना पड़ा। एक ओर ब्राह्मणवाद का जोर था, जो थोथे कर्मकांडों और मूक पशुओं को मौत के घाट उतार कर यज्ञ के नाम पर उनकी बलि देने के बल पर प्रतिष्ठित था। वह अपनी उच्चता और श्रेष्ठता का मिथ्याभिमान जन्मना जातिवाद के नाम पर चला रहा था। धर्म-कर्म के क्षेत्र में रित्तियों और शूद्रों का अधिकार छीन रखा था। उन्हें शास्त्र-श्रवण और धर्माचरण से वंचित कर रखा था। मानव अपने मानव भगिनी-बन्धुओं को भेड़-बकरी की तरह सरेआम गुलाम बना कर क्रय-विक्रय कर रहा था। समाज में गुलामों को विकास के मामलों में कुछ भी बोलने का अधिकार नहीं था।

समाज और राष्ट्र में पतनपती हुई इन और ऐसी ही कुरूदियों और धर्मक्षेत्र में प्रचलित ऐसी कुप्रथाओं का भगवान् महावीर ने और उनके श्रमण-श्रमणी-वर्ग ने पूरी शक्ति लगा कर उन्मूलन किया।

उन्होंने जातिवाद का समूलोच्छेदन कर अपने संघ में, धर्म-सभा में, धर्म-साधना के क्षेत्र में सबको सर्वत्र समान स्थान दिया। नारीजाति को पुरुष के बराबर अपने संघ में सभी अधिकार दिये। समाज में मातृ-जाति का सम्मान बढ़ाया, उसमें नारीत्व जगाया। शूद्र कहलाने वाले सभी प्रकार के लोगों को उन्होंने

अपने साधु-श्रावक-वर्ग में स्थान दिया। फलतः मूक पशुओं का निर्दयता से यज्ञ में होने वाला वध रुका। पण्डितवर्ग, क्षत्रियवर्ग और साधारणवर्ग के लोगों के जीवन में अद्भुत परिवर्तन हुआ। पशुपक्षियों को भी शान्ति की सांस मिली।

क्रान्ति के इस प्रकाशमय सूर्य ने मानव-जगत् की अमानवीयता, क्रूरता और शोषण पर आधारित समस्त मान्यताओं के अन्धकार को विच्छिन्न कर दिया।

राजा बने हुए लोग एकाधिकार में मत होकर अपनी मनमानी करते और आये दिन युद्ध ठान बैठते, अपने भोग-विलासों में मस्त रहते, भगवान् महावीर से उन्हें राष्ट्र में सहजीवन और सह-अस्तित्व की प्रेरणा मिली। कई जनपदों में गणराज्य की नींव पड़ी और कई राजाओं, राजकुमारों एवं राजरानियों को गृहस्थधर्म की एवं कइयों को साधु-धर्म की प्रेरणा मिली। उनके जीवन का कायापलट हो गया।

सच्चमुच्च, महावीर के तीर्थंकरकाल की इन समस्त क्रान्तिकारी घटनाओं का जीता-जागता वर्णन कविश्रज्जी ने प्रस्तुत किया है। महावीर ने अपनी साधना के बल पर कैसे युग बदला, किस प्रकार मानव जाति को सुखशान्ति से जीने की कला सिखाई? किस प्रकार उसकी घातक मान्यताओं में परिवर्तन

किया ? इसका सजीव चित्रण कविश्रीजी ने अंकित किया है ।

२. **महावीर के सिद्धान्त**—समाज और राष्ट्र के रूढ़ विचार और रूढ़ आचार को बदलने के लिए सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना आवश्यक होता है । महावीर ने समता, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, ब्रह्मचर्य, साधुता, आदि सिद्धान्तों को समाज और राष्ट्र के सामने इस ढंग से प्रस्तुत किया, जिससे तत्कालीन समाज, राष्ट्र एवं धर्म के क्षेत्र में हलचल मच गई । उन्होंने मानवजाति के हित के लिए ही इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था । भारतवर्ष के आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय नेताओं ने इन्हीं सिद्धान्तों पर चल कर एवं दूसरों को चलने की प्रेरणा दे कर समाज एवं राष्ट्र का कायाकल्प किया है । गाँधीजी की आँधी भी इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित थी । कबीर का समाज - क्रान्तिकारी नाद इन्हीं सिद्धान्तों को केन्द्र में रख कर हुआ था । संत विनोबा का भूदानयज्ञादि दानों का आन्दोलन भी इन्हीं सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि पर टिका हुआ है । वास्तव में देखा जाए, तो भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित अतिथि संविभागव्रत तथा 'असंविभागी नहु तस्स मुखो' आदि अपरिग्रहवाद ही इस यज्ञ के पीछे काम कर रहा है । सर्वोदय का सर्व-कल्याणकारी सिद्धान्त भी भगवान्

महावीर ने अपने तथा संघ के जीवन में चरितार्थ कर दिया था। महावीर के उन्हीं सिद्धान्तों का अनूठी शैली में अंकन कविश्रीजी ने किया है।

३. **महावीर के उपदेश**—इस विभाग में भगवान् महावीर के कुछ उपदेशों का सूत्ररूप में संकलन किया गया है। प्रत्येक सूत्र के सामने उसका अर्थ भी हिन्दी भाषा में दिया गया है। आत्मा, कर्मवाद, अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समता आदि विषयों पर महावीर के उपदेशों का संकलन है। वस्तुतः ये उपदेश तत्कालीन मानव-समाज को शान्ति और तृप्ति प्रदान करते थे, उनके अज्ञानान्धकार को मिटाते थे। आज भी ये उपदेश प्रकाश का काम करते हैं। मानव-समाज की सामाजिक, राष्ट्रिय, धार्मिक आदि समस्याओं को हल करने की प्रेरणा आज भी इन उपदेशों से मिलती है। उपदेशों का संकलन भी बहुत सुन्दर ढंग से हुआ है।

कुल मिला कर प्रस्तुत पुस्तक मानव - जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए प्रेरणाप्रद और महावीर के जीवन को समग्र पहलुओं से समझने के लिए अति-उपयोगी है। कविश्रीजी पुस्तक लेखन में सफल हुए हैं उनका श्रम सार्थक हुआ है। पाठक इसे अपनायें और हृदयगम करें।

जैनभवन, लोहामण्डी }
आगरा २५-६-७४ }

—मुनि नेमिचन्द्र

प्रकाशकीय

“महावीर : सिद्धान्त और उपदेश”, प्रेमी पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करते हुए मेरा हृदय हर्षातिरेक से गद्गद हो रहा है। साहित्य के माध्यम से जन-सेवा करने में तन का श्रम, मन का समर्पण और आत्मा की तपस्या मुख्य रहती है। इस सेवा में तन को तपस्वियों की तरह तपाना पड़ता है—मन को बार-बार एकाग्रता की शृंखला में बांधना पड़ता है—तब कहीं होती है अन्ततः साहित्य - सेवा।

ज्ञान-पीठ का अब तक जिन प्रवचनकार मुनियों एवं विद्वान लेखकों से सम्बन्ध रहा है, वे सब साहित्यिक साधना की इसी कसौटी के परखे हुए साहित्य तपस्वी रहे हैं।

पूज्य उपाध्याय कविश्री अमरमुनिजी महाराज की प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में, मैं अपनी ओर से क्या लिखूँ ! समूचा समाज ही आपकी सिद्धहस्त लेखनी की प्रांजल भाषा, शैली, विचारों की मौलिकता और विषय - विश्लेषण की गंभीरता से परिचित है। फिर भी प्रकाशक के नाते मुझे यही कहना है—महावीर-चरित्र अद्यावधि बहुत से प्रकाशित हुए हैं, पर प्रस्तुत संकलन की अपनी एक अनूठी ही विशेषता है।

विशेषता क्या और कितनी है, इस विषय की अन्य पुस्तकों में और इसमें, यह पाठकों के निर्णय करने की चीज है ।

भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणवर्ष के उपलक्ष्य में पुस्तक का यह तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है । इसमें कुछ संशोधन-परिवर्द्धन किये गए हैं । पुस्तक की लोकप्रियता का प्रमाण यही है कि इसका द्वितीय संस्करण बहुत शीघ्र पाठकों ने अपना लिया ।

नयनाभिराम गेट - अप आदि के अलंकृत पॉकेट साइज की पुस्तकों की मांग आज की खास और आम मांग है । इस मांग की पूर्ति, सीमित साधनों के होते हुए भी पर्याप्त अंशों में की गई है ।

कागजों एवं छपाई की भीषण बढ़ती कीमत होने पर भी भगवान् महावीर की भक्ति और पाठकों के अनुरोध से प्रेरित हो कर हम तृतीय संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं ।

आशा है, उदारमना पाठक इस पुस्तक को भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा - भक्तिवश पढ़ेंगे और उनके बताए हुए सिद्धान्तों और उपदेशों को अपने जीवन में उतारेंगे । बस, ये ही दो शब्द आपसे कहने हैं ।

मन्त्री

ओमप्रकाश जैन

पुस्तक में

क्या है ?

कहाँ है ?

विषय

पृष्ठ

पुस्तक की परिक्रमा

५-१०

प्रकाशकीय

११-१२

१-महावीर की जीवनरेखाएँ

(१-५२)

१. गृहस्थ - जीवन

१-१२

२. साधक - जीवन

१३-३२

३. तीर्थंकर - जीवन

३३-५२

२-महावीर के सिद्धान्त

(५३-१०८)

१. शोषण - मुक्ति : अपरिग्रह

५४-५८

२. आत्मा का अमर संगीत : अहिंसा

५९-६७

३. जैन - दर्शन का मूल स्वर : अनेकान्त

६८-८४

४. महावीर की अमर देन : समन्वय

८५-९२

५. नैतिकता का मूलाधार : कर्मवाद

९३-१०८

विषय

पृष्ठ

३-महावीर के उपदेश : (१०६-१५३)

१. आत्मा	११०-११७
२. कर्मवाद	११८-१२३
३. अहिंसा	१२४-१२६
४. सत्य	१३०-१३१
५. अस्तेय	१३२-१३३
६. ब्रह्मचर्य	१३४-१३७
७. अपरिग्रह	१३८-१४१
८. वैराग्य	१४२-१४५
९. समता	१४६-१४६
१०. मोक्ष	१५०-१५३



महावीर
की
जीवन
रे
खा
एँ

गृहस्थ जीवन

जन्म के पूर्व :

० यह ढाई हजार वर्ष पहले के भारत की बात है। वह समय, भारतीय - संस्कृति के इतिहास में, एक महान् अन्ध-कारपूर्ण युग माना जाता है। तत्कालीन इतिहास-सामग्री को ज्यों ही कोई सहृदय पाठक उठा कर देखता है, तो सहसा चकित हो उठता है कि क्या भारतीय - संस्कृति भी इतनी पतित, तिरस्कृत, विकृत एवं कलंकित रह चुकी है।

० जहाँ तक बौद्धिक स्थिति की बात है, वह युग एक बहुत विचित्र स्थिति में से गुजर रहा था। दार्शनिक विचारों का स्थान अन्ध-श्रद्धा ने ले लिया था। जनता अन्ध-विश्वास में, झूठे बहमों में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझे हुए थी। प्रायः धर्मगुरु, धर्माचार्य, महन्त तथा कुल-गुरु, पंडे और पुरोहित ही उस युग के विचारों के नियन्ता थे। अतः वे अपने मनोऽनुकूल जिधर चाहते उधर ही शास्त्रों के अर्थों को लुढ़का रहे थे, और धर्ममुग्ध जनता को उगलियों पर नचा रहे थे।

० सदाचार की दृष्टि से भी वह युग जघन्यदशा को पहुँचा हुआ था। सदाचार का अर्थ, उस युग को परिभाषा

२ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

में, देवी-देवताओं को पूज लेना था, पशुबलि एवं नरबलि के नाम पर निरीह जीवों को तलवार के घाट उतार देना था, और था मंत्र-तंत्रों के बहकावे में खुल्लमखुल्ला मांसाहार, सुरापान और व्यभिचार का प्रचार ।

० तत्कालीन सामाजिक संगठन जात-पात के विषेले सिद्धान्त पर आश्रित था । अखण्ड मानवजाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, महाशूद्र, अस्पृश्य, और न जाने कितने अटपटे नामों वाले टुकड़ों में बँट-बँट कर छिन्न-भिन्न हो गई थी और आपस में हा एक-दूसरे के रक्त की प्यासी बन गई थी । सामाजिक समता का तो उन दिनों स्वप्न भी नहीं लिया जाता था । शूद्रता और अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मानवदेहधारी बन्धु मानवता के मूल अधिकारों से वंचित कर दिये गए । वे पशुओं से भी गई - बीती हालत में जीवन - यापन कर रहे थे । मनुष्य का मनुष्य के तौर पर सम्मान न करके, उस काल में उसे नफरत की निगाह से देखा जाता था ।

० पूज्य मातृ-जाति की दशा भी दयनीय थी । वे गृह-स्वामिनी से गृह-दासी बना दी गई थीं । उन्हें सब प्रकार से हेय, यहाँ तक कि पापाचार की मूर्ति समझा जाता था । 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' का ही तुमुलघोष चहुँ ओर गूँज रहा था । अस्तु, उनके हाथ से समस्त सामाजिक समानता के अधिकार छीन लिये गए थे । और तो और, उन्हें धर्म-साधना के भी कोई अधिकार न थे । उनके जात-कर्म आदि के संस्कार भी बिना मंत्रों के ही किये जाते थे, कहीं मंत्र ही अपवित्र न हो जाए इस भय से ।

० प्राचीन धर्म-संघ अस्त-व्यस्त दशा में जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। उनका अपना पुराना आदर्श धूमिल हो चुका था, पुराना तेज ठंडा पड़ चुका था। वे निष्प्राण लोक-रूढ़ि के दलदल में पूरे फँसे हुए थे। धर्म के नाम पर अपने अभिमत पथ के अनुसार एकमात्र परम्परागत क्रिया-काण्ड कर लेना ही अलम् समझा जाता था। आत्म-त्याग और आन्तरिक पवित्रता आदि, जो वास्तविक धर्म के अंग हैं, उनके लिए उस युग में कोई उचित स्थान न था। अधिक क्या, सुप्रसिद्ध मनीषी श्री राधवाचार्य के शब्दों में कहें तो “कट्टरतापूर्ण अज्ञान, मिथ्या-विश्वासों से पूर्ण क्रियाकलाप, तथा समाज के एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग का लूटा जाना—यही तीन उस युग की विशेषताएँ थीं।”

० भगवान् पार्श्वनाथ का शासन अब भी चल रहा था। परन्तु, उसमें वह पहले जैसा तेज न रहा था। चारों ओर से पाखण्ड की जो आंघ्रियाँ उठ रही थीं, वह उन्हें दृढ़ता के साथ रोक नहीं पा रहा था। बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य अपना साहस खो बैठे थे और तत्कालीन महामुनि श्री केशीकुमार श्रमण के शब्दों में यह सोच रहे थे—“क्या किया जाए मुग्ध जनता अन्धकार में पथ-भ्रष्ट हो कर भटक रही है। कहीं प्रकाश नहीं मिलता। अब कौन महापुरुष अवतीर्ण होगा, जो भारत के क्षितिज पर सूर्य बन कर उदय होगा, और सब ओर प्रकाश-ही-प्रकाश चमका देगा।”

० संक्षेप में यों कहना चाहिए कि एक दिव्य लोकोत्तर महापुरुष के जन्म लेने का काल पक चुका था।

मगध में सूर्योदय

० आज का बिहारप्रान्त महापुरुषों को जन्म देने की दृष्टि से सदा ही गौरवशाली रहा है। अनेक महापुरुषों ने इस पुण्य-भूमि में जन्म लिया है, सत्य का प्रचार-प्रसार किया है, सुप्त जनता को जगाया है, प्राण-दान देकर भारत के गौरव को अक्षुण्ण रखा है।

० हाँ तो इसी पुण्यभूमि में वह सूर्य उदय हुआ था, जिसकी ओर ऊपर की पंक्तियों में संकेत कर दिया गया है। वह सूर्य और कोई नहीं, हमारे अराध्यदेव श्रमण भगवान् महावीर ही हैं, जिनके दिव्य जन्म से एक दिन यह भारत - भूमि जगमगा उठी थी।

० आज से करीब २६ शताब्दी पहले की बात है। भारत के बिहारप्रान्त में 'वैशाली' का ही एक भाग 'क्षत्रियकुण्ड' नगर था। पुरातत्त्व-वेत्ताओं के मत से गंगा के उस पार उत्तरी बिहार में गंडकी नदी के तट पर, जहाँ आज बसाढ गाँव बसा हुआ है, वहीं क्षत्रिय-कुण्ड ग्राम की अवस्थिति रही है।

० क्षत्रियकुण्ड ग्राम ज्ञात वंशीय क्षत्रियों का प्रधान केन्द्र था। एक प्रकार से यह ज्ञातक्षत्रियों की एक छोटी-सी राजधानी ही थी। वहाँ ज्ञातक्षत्रियों के राजा श्रीसिद्धार्थ शासन करते थे। इनकी रानी प्रियकारिणी 'त्रिशला' थी, जो वज्जी गणतन्त्र के प्रमुख वैशाली-नरेश चेटक की बहन थी।

० चैत का पावन महीना था, ज्योतिर्मय शुक्लपक्ष था, सर्वसिद्धा त्रयोदशी का शुभ दिन था, भगवान् महावीर का सिद्धार्थ राजा के यहाँ त्रिशालादेवी के गर्भ से भारत भूमि पर अवतरण हुआ ।

० यह स्वर्णदिन जैन - इतिहास में अतीव गौरवशाली दिन माना जाता है । जैन - इतिहास ही नहीं, भारत के इतिहास में भी यह दिन स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है । डबती हुई भारत की नैया के खिचैया ने आज के दिन ही हमारे पूर्वजों को सर्वप्रथम शिशु के रूप में दर्शन दिए थे ।

० बालक महावीर का नाम माता-पिता के द्वारा 'वर्धमान' रक्खा गया था । परन्तु, आगे चल कर, जब वे अतीव साहसी, दृढ़निश्चयी और विघ्न - बाधाओं पर विजय पाने वाले महापुरुष के रूप में संसार के सामने आए, तब से 'महावीर' के नाम से जन - जन में प्रसिद्ध हो गए ।

पारिवारिक जीवन :

० बालक महावीर बचपन से ही होनहार थे । आपकी मेधाशक्ति बहुत ही तीव्र एवं निर्मल थी । आप अभय की तो साक्षात् सजीव मूर्ति ही थे । आपका साहस अपराजित था, इस सम्बन्ध में महावीर के बाल्य-काल की कितनी ही कहानियाँ जैन - साहित्य में उल्लिखित हैं ।

० वैशाली—क्षत्रियकुण्ड के एक ब्राह्मण पण्डित अपने समय के लब्धकीर्ति विद्वान् थे । उनकी ख्याति दूर - दूर तक के प्रदेशों में प्रसार पा चुकी थी । शताधिक शास्त्रार्थों में उन्हें अप्रतिम विजयश्री प्राप्त हुई थी ।

इस विद्वान् ब्राह्मण का अपना एक गुरुकुल था, जिसमें अनेक राजाओं, सेनापतियों तथा राजपुरोहितों के पुत्र दूर-दूर से अध्ययनार्थ आते थे। उक्त गुरुकुल का छात्र एवं आचार्य का शिष्य होना, अपने में एक गौरव की बात थी।

० राजकुमार वर्धमान लगभग आठ वर्ष के ही होंगे, उन्होंने विचार-चर्चा में आचार्य को हतप्रभ कर दिया। इतनी सहज प्रतिभा आचार्य ने, अभी तक बालक में तो क्या, किसी अन्य वयोवृद्ध विद्वान् में भी नहीं देखी थी। अध्ययन से पृथक् कोई दिव्य प्रतिभावुद्धि, किसी में जन्म-जात भी होती है, यह पहली बार देखा राजगुरु ने अपनी विस्मय-विमुग्ध आँखों से। वह भक्ति-विभोर वाणी में कह उठा—“यह शिशु नहीं, साक्षात् सरस्वती है ! इसे कोई क्या ज्ञान देगा ? सूर्य को पथ दिखाने के लिए कहीं दीप जलाये जाते हैं ?”

० एक वार ऐसा हुआ कि वर्धमान अपने बाल-साथियों के साथ नगर के बाहर एक वन में खेल रहे थे। खेल का रंग जम रहा था, बालक कहकहे लगाते खेल के मैदान में इधर-उधर दौड़ रहे थे।

सहसा क्या देखा कि एक वृक्ष के नीचे अजगर जैसा एक महाकाय सर्प फुफकार रहा है। बच्चे तो भय से चीखते-चिल्लाते भागने लगे। सर्प ! और फिर इतना बड़ा ! भला कोई कैसे वहाँ खड़ा रह सकता था ?

महावीर तो महावीर ! सिंह-शावक कितना ही छोटा क्यों न हो, क्षुद्रकाय हो, आखिर तो वह सिंह ही होता है न ? क्षितिज पर अभी - अभी उदय हुआ, बाल रवि भी क्या कभी चारों ओर परिव्याप्त सघन अन्धकार से डरा है ?

महावीर दौड़कर सर्प के पास आए । देखा और मुस्कराए "नागराज. तुम्हारा यहाँ खेल के मैदान में क्या काम ? डराने आए हो हमें ! जाओ, जाओ, अपना काम करो" राजकुमार महावीर ने हंसते - हंसते यह कहा और एक साधारण-सी सुकोमल नागवल्ली की तरह उठा कर महाकाय नाग को खेल के स्थान से बहुत दूर झाड़ियों में छोड़ आए ।

वीरता और साहसिकता सहज होती है, खरीदी नहीं जाती, उधार नहीं ली जाती ।

० एक और घटना है बचपन की । नगर से काफी दूर वन प्रदेश में कुमार महावीर अपने बालमित्रों के साथ खेल रहे थे । कैसा था वह युग, जब राजकुमार शस्त्र सैनिकों के पहरे में सुरक्षा के नाम पर, बन्दी नहीं थे ।

यह महत्ता के मद से उमजी कैद साम्राज्यवादी एक-तंत्रीय राजघराने में होती है । महावीर राजकुमार तो थे, किन्तु प्रजातंत्रीय राजघराने के राजकुमार थे । प्रजातंत्र का राजा राजा होते हुए भी प्रजा ही होता है । परिवार का मुखिया क्या परिवार से भिन्न अपनी कोई अलग स्थिति रखता है ? यह प्रजातंत्र की ही देन थी कि महावीर राजकुमार हैं, फिर भी प्रजा के साधारण बच्चों के साथ बिना किसी सुरक्षात्मक पहरेदारी के वन-प्रदेश में खेल रहे हैं ।

पुराने कथागुरु कहते हैं कि उक्त बाल-क्रीड़ा के समय ताड़-जैसा लम्बा, कज्जलगिरि-सा काला-कलूटा, दान-वाकार एक महाभयंकर आदमी आ धमका। महावीर को अपने कंधों पर उठाकर उछलने - कूदने व दौड़ने लगा वह।

दूसरे बालकों को तो जैसे सांप सूंघ गया। कुछ सहसा बेहोश हो गए, धरती पर निष्प्राण मुर्दों की तरह धम् से गिर पड़े। और, कुछ चीखने-चिल्लाने लगे, जोर-जोर से रोने लगे। पर, सब बेवस, लाचार ! करें भी, तो क्या करें !

दैत्य कुमार महावीर को कन्धों पर उठाये जा रहा है, यम - दूत की तरह। और, महावीर हैं कि निर्भय और निर्वन्द्व। आस-पास भी कहीं कोई भय की छाया तक नहीं, किसी भी तरह का कोई डर नहीं। ऊगते किरण की नन्हीं-सी-बालकिरण भी कितनी ज्योतिर्मय होती है, देखे कोई उसे प्रभात की स्वर्णिम वेला में !

महावीर ने कुछ देर तो देखा—यह कौन है, क्या करता है ? और जब देखा कि गलत आदमी है, इरादा अच्छा नहीं है इसका, तो कुमार ने कस कर उसके नग्न कपाल पर मुष्टिप्रहार किया। मुष्टि क्या, वज्र की ही एक चोट थी ! होश भूल गया वह। नख से शिखा तक तिलमिला उठा सारा अंग। शीघ्र ही चरणों में गिरा, क्षमा मांगने लगा।

पुराने कथागुरु इसे दैवी घटना का रूप देते हैं। कुछ भी हो महावीर बाल्य - काल से ही वीर थे, महावीर थे। भय की तो कोई एक रेखा भी उन्हें स्पर्श न कर सकी थी।

और, सबसे बड़ा अजेय बल अभय ही तो है। अभय के क्षणों में छोटा-से-छोटा नगण्य प्रयोग भी व्यक्ति को विजेता बना देता है।

राजकुमार महावीर तन और मन दोनों के बली थे। यही कारण है कि उनके समक्ष क्या आसुरी, क्या देवी, क्या मानवी, सभी विरोधी शक्तियाँ अन्ततः पराजित होगईं।

० महापुरुष पूर्व जन्म से ही दिव्य - संस्कार ले कर आते हैं। उनका जीवन कई जन्मों से बनता-संवरता अन्तिम जन्म में जा कर पूर्ण होता है। अस्तु, महावीर प्रारम्भ से ही दयालु, नीतिमान और मुमुक्षु प्रकृति के थे। आप जब कभी एकान्त पाते, चिन्तन में लीन हो जाते और घण्टों ही वहीं एकान्त में आध्यात्मिक विचार-सागर में डुबकियाँ लगाते रहते।

० राजा सिद्धार्थ महावीर की इस चिन्तनशील प्रकृति से डरते थे कि कहीं राजकुमार वैराग्य की दशा में न चला जाए? फलतः 'समरवीर' राजा की सुपुत्री 'यशोदा' के साथ—जो अपने समय की अनिद्य सुन्दरी थी, शीघ्र ही महावीर का विवाह कर दिया गया।

० महावीर विवाह के लिए प्रस्तुत नहीं हो रहे थे। वे अपने निश्चित लक्ष्य पर सीधे जाना चाहते थे, परन्तु पिता के आग्रह और माता के हठ ने उन्हें विवाह के लिए मजबूर कर दिया। महावीर माता-पिता के अनन्य भक्त थे, अतः माता-पिता के स्नेही हृदय को जरा भी ठेस पहुँचाना, महावीर का भावुक हृदय, स्वीकार न कर सका।

० महावीर-विवाह-बन्धन में बंध गए। धर्म-पत्नी भी सुन्दरी थी, साथ ही सुशीला भी। राज्य वैभव चरणों में हर समय निछावर था। सांसारिक सुखोपभोगों की कोई कमी न थी। परन्तु, महावीर का वैरागी हृदय इन दुनियावी उलझनों में नहीं उलझा। वह रह-रह कर मोह-बन्धनों को तोड़ने के लिए उठ खड़ा होता था, उसके समक्ष एक महान् भविष्य का उज्ज्वल चित्र अंकित जो हो रहा था।

० इसका यह अभिप्राय नहीं कि महावीर एक असफल गृहस्थ थे। उन्होंने गृहस्थाश्रम की गाड़ी को भी बड़ी सफलता के साथ चलाया था। तत्कालीन राजनीति पर भी आपने अपने चतुर व्यक्तित्व की छाप खूब अच्छी तरह डाली थी। परिवार का स्नेह भी पूर्णतया संपादन किया था। दम्पती का आदर्श प्रेम भी एक आकर्षण की चीज थी। संतति के रूप में परिवार को राजकुमारी प्रियदर्शना के नाम से एक सुपुत्री भी प्राप्त थी। परन्तु यह सब कार्य गृहस्थाश्रम के आदर्श के लिए ही था। विषयासक्ति-जैसी चीज महावीर के अन्त-स्तल में कभी बद्धमूल न रही।

० राजकुमार महावीर की अवस्था २८ वर्ष के करीब हो चुकी थी। इसी बीच माता-पिता का देहान्त हो गया। राजसिंहासन के लिए—महावीर के समस्त परिवार और प्रजा की ओर से आग्रह किया गया, परन्तु उन्होंने स्पष्ट-रूप से इन्कार कर दिया। आखिर, महावीर के बड़े भैया नन्दीवर्द्धन को राजसिंहासन पर बिठा दिया गया। अन्ततः

महावीर ने संसार-त्यागी भिक्षु होने का प्रस्ताव परिवार के सामने रखा। परन्तु, नंदीवर्द्धन के अत्याग्रह पर दो वर्ष और गृहस्थाश्रम में रहे, और इस प्रकार महावीर ने कुल ३० वर्ष का जीवन गृहस्थ-दशा में बिताया।

वैराग्य की ओर

० भगवान् महावीर ने राजकुमार-अवस्था में प्रजा की भलाई के लिए बहुत कुछ योग्य प्रयत्न किए। युवावस्था में पदार्पण करने के साथ ज्यों ही तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक अव्यवस्था का ताण्डव-नृत्य देखा, आपका कोमल हृदय चूर-चूर हो गया। आपने राज-शासन के द्वारा सामाजिक क्षेत्र में सुव्यवस्था लाने का प्रयत्न किया, परन्तु अन्ततः आपने देखा कि राज-शासन जैसी चाहिए, वैसी सुव्यवस्था की स्थापना में पूर्णतः सफल नहीं हो सकेगा।

० वास्तव में देखा जाए, तो राज्य - शासन और धर्म - शासन दोनों का ही मुख्य उद्देश्य जनता को सन्मार्ग पर ले जाना है। परन्तु, राज - शासन के अधिनायक अधिकतर मोह - मायाग्रस्त व्यक्ति होते हैं, अतः वे समाज - सुधार के कार्य में पूर्णतया सफल नहीं हो पाते। भला, जो जिस विकार - वृत्ति को अपने हृदयतल से नहीं मिटा सका, वह दूसरे हजारों हृदयों से उसे कैसे मिटा सकता है? राजशासन की आधारशिला प्रेम, स्नेह एवं सद्भाव की भूमि पर नहीं रखी जाती। वह रखी जाती है, प्रायः भय, आतंक और दमन की नींव पर। यही कारण है कि राजशासन प्रजा में

न्याय, नीति और शान्ति की रक्षा करता हुआ भी अधिक स्थायी व्यवस्था कायम नहीं कर सकता, जबकि धर्म-शासन, आपसी प्रेम और सद्भाव पर कायम होता है, फलतः वह सत्पथ-प्रदर्शन के द्वारा मूल से समाज का हृदय - परिवर्तन करता है और सब ओर से पापाचार को हटा कर स्थायी न्याय, नीति तथा शान्ति की स्थापना करता है ।

० प्रभु महावीर भी अन्ततोगत्वा इसी निर्णय पर पहुँचे । आपने देखा की भारत का यह दुःसाध्य रोग साधारण राज-नैतिक हलचलों से दूर होने वाला नहीं है । इसके लिए तो सारा जीवन ही उत्सर्ग करना पड़ेगा, क्षुद्र परिवार का मोह छोड़ कर विश्व - परिवार का आदर्श अपनाना होगा । राजकीय वेशभूषा से सुसज्जित होकर साधारण जनता में नहीं घुला - मिला जा सकता । उस तक पहुँचने के लिए तो ऐच्छिक लघुत्व स्वीकार करना होगा । अर्थात् शुद्ध भिक्षुत्व ही 'स्व' और 'पर' के विकारों एवं दोषों के परि-मार्जन की दिव्य प्रक्रिया है ।

० भारत के इतिहास में मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी का दिन सदैव संस्मरणीय रहेगा । इस दिन राजकुमार महावीर स्व-पर कदयाण के लिए, पीड़ित संसार को सुख-शान्ति का अमर सन्देश सुनाने के लिए, अपने अन्दर में सोए परमात्म-तत्त्व (ईश्वरत्व) को जगाने के लिए, राज्य-वैभव को ठुकरा कर, भोग - विलास को तिलांजलि दे कर, अपने पास की करोड़ों की संपत्ति दोन-हीन जनता के उद्धार में अर्पित कर अकिंचन भिक्षु बने थे ।

साधक जीवन

साधना के पथ पर

० इतिहास के पृष्ठों पर, हम हजारों की संख्या में जन-नेताओं को असफल हुआ पाते हैं। इसका कारण यह है कि वे सर्वप्रथम अपने जीवन का सुधार नहीं कर पाए थे। हृदय में कुछ करने की एक हलकी-सी तरंग के उठते ही विश्व का सुधार करने को मैदान में कूद पड़े। परन्तु ज्यों ही विधन-बाधाओं का भयंकर तूफान सामने आया कि हताश होकर वापस लौट पड़े। जिस सिद्धान्त के प्रचारार्थ वे शोर मचाते थे, जब जनता उनमें वह सचाई न पा सकी तो, उसने तिस्कार किया और विश्वोद्धार का स्वप्न देखने वाले नेता अन्धकार के सागर में डूब कर विलीन हो गए।

० परन्तु भगवान् महावीर ने दीक्षा लेते ही धर्म-प्रचार की शीघ्रता न की। पहले उन्होंने अपने आपको साध लेना चाहा। फलतः अन्तस्तल में उन्होंने यह दृढ़-प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली कि 'जब तक कैवल्य (पूर्ण बोध) प्राप्त न होगा, तब तक सामूहिक जन-सम्पर्क से अलग रहूंगा—एकान्त में वीतराग - भाव की ही साधना करता रहूंगा।'

० महावीर का साधना-काल बड़ा ही विलक्षण माना जाता है। यह वह काल है, जिसमें महावीर ने अपने शरीर तक की कोई परवाह न की और निरन्तर उग्र आत्म-साधना में ही संलग्न रहे। क्या गर्मी, क्या सर्दी और क्या वर्षा, अधिकतर निर्जन वनों एवं पर्वतीय गुफाओं में ही वे ध्यान-साधना करते रहते थे। नगरों में भिक्षा आदि के लिए कभी-कभी ही आना होता था।

० महावीर की यह साधना १२ वर्ष तक चलती रही। इस बीच में आपको बड़े ही भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ा। आपको प्रायः हर जगह अपमानित होना पड़ता था। ग्रामीण लोग बड़ी निर्दयता के साथ पेश आते थे। कभी-कभी तो प्राणान्तक पीड़ा के प्रसंग भी देखने को मिलते थे। ताड़न, तर्जन और उत्पीड़न तो रोजमर्रा की बात थी। लाटदेश में तो आपको शिकारी कुत्तों से भी नुचवा डाला था। परन्तु आप सर्वथा शान्त एवं मौन रहे। आपके हृदय में विरोधी-से-विरोधी के प्रति भो करुणा का अमृतमय क्षरना अबाध गति से बहता रहता था। द्वेष और रोष क्या चीज होते हैं, आपका अन्तर्-हृदय इस ओर से सर्वथा अस्पृष्ट रहा। भगवान् की तितिक्षा एक प्रकार से चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। वह सहज थी, आरोपित नहीं।

अपने बल, अपना उद्धार

० भगवान् महावीर का स्वावलम्बन, एक आदर्श था। साधना-काल में आप पर, न जाने कितने विपत्ति के पहाड़

टूटे, परन्तु आपने सहायता के लिए कभी भी किसी की ओर मुँह नहीं किया ।

० स्वयं सहायता मांगना तो दूर, आपने तो सेवा-भाव के नाते सेवा करने वालों को भी अपने पास न रखा । जैन-साहित्य इस सम्बन्ध में, एक बड़ी ही उदात्त घटना का उल्लेख करता है ।

० एक वार की बात है कि—देवराज इन्द्र प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए । भगवान् ध्यान में थे, बड़ी नम्रता के साथ इन्द्र ने प्रार्थना की—

“भगवन्, आपको अबोध जनता बड़ी पीड़ा पहुंचाती है । वह नहीं जानती कि आप कौन हैं ? वह नहीं समझती कि—आप इनके कल्याण के लिए ही यह सब-कुछ कर रहे हैं । अतः भगवन्, आज से यह सेवक आपश्री के चरण-कमलों में रहेगा । आपको कभी कोई अबोध किसी प्रकार का कष्ट न दे, इसका निरन्तर ध्यान रखेगा ।”

भगवान् ने कहा—“देवराज, यह क्या वह रहे हो ? भक्ति के मोह में सचाई को नहीं भुलाया जा सकता । अगर कोई कष्ट देता है तो दे, मेरा इसमें क्या बिगड़ता है ? मिट्टी के शरीर को हानि पहुंच सकती है, पर आत्मा तो सदा अच्छेद्य और अभेद्य है । इसे कोई कैसे नष्ट कर सकता है ?

“ भगवन्, आप ठीक कहते हैं । परन्तु शरीर और आत्मा कोई अलग चीज थोड़े ही हैं । आखिर शरीर की चोट, आत्मा को भी कुछ-न-कुछ पीड़ा पहुंचाती ही है, यह तो अनुभव-सिद्ध बात है ।” इन्द्र ने प्रश्न को आगे बढ़ाया ।

“परन्तु यह अनुभव तुम्हारा अपना ही तो है न ? मेरा तो नहीं ? आत्मा और शरीर के द्वैत को मैंने भली-भांति जान लिया है, फलतः शरीर की किसी भी पीड़ा से मैं प्रभावित होऊँ, तो क्यों ?”

“भगवन्, आप जैसे दिव्य ज्ञानी के समक्ष मैं क्या तर्क कर सकता हूँ ? मैं कुछ नहीं जानता । मैं तो सिर्फ यही एक बात जान पाया हूँ कि मैं आपका तुच्छ सेवक हूँ इसलिए सेवा में रहूँगा ही ।”

“आखिर, इससे लाभ ?”

“भगवन्, लाभ की क्या पूछते हैं ? इस लाभ की तो कोई सीमा ही नहीं । इस तुच्छ सेवक को आपकी सेवा का लाभ मिलेगा, पामर आत्मा पवित्र हो जाएगी ।”

“यह तो तुम अपने लाभ की बात कह रहे हो ! मैं अपने लाभ की पूछता हूँ ?”

“भगवन्, सेवक को सेवा का लाभ मिले यह भी तो आपका ही लाभ है । क्या ही अच्छा हो, प्रभो कि कोई आपको व्यर्थ ही न सताए और आप सुख - पूर्वक साधना करते हुए कैवल्य प्राप्त कर सकें ?”

“इन्द्र, तुम्हारी यह धारणा सर्वथा मिथ्या है ।”

“भगवन्, कैसे ?

“साधक की अर्हन्त होने की साधना अपने स्वयं के बल पर ही सफल हो सकती है । ‘स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम् ।’ कोई भी साधक अतीत में आज तक किसी देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती आदि की सहायता के बल पर न

अर्हन्त (पूर्ण पवित्र परमात्मा) हो सका है, न अब वर्तमान में हो सकता है और न भविष्य में हो सकेगा । सहायता लेने का अर्थ है—अपने आपको पराश्रित पंगु बना लेना, सुविधा का गुलाम बना लेना । सुख पूर्वक साधना, यह शब्द साहस-हीन हृदय की उपज है । सुख और साधना का तो परस्पर शाश्वत वैर है, इन्द्र !”

० देवेन्द्र भक्ति - गद्गद हृदय से प्रभु के चरणों में गिर जाता है, साथ रहने के लिए गिड़गिड़ाता है, शत-शत बार प्रार्थना करता है । परन्तु, महावीर हर बार दृढ़ता के साथ 'नकार' में उत्तर देते हैं । यह है भिक्षु जीवन का महान् उदात्त आदर्श ! 'एगो चरे खग्गविसाणकप्पो ।'

दरिद्र ब्राह्मण को वस्त्रदान

० भगवान् वड़े ही उदार - हृदय के महापुरुष थे । अपना और ब्रेगाना, उन्होंने प्रारंभ से ही नहीं सीखा था । उनके हृदय में दुःखितों के प्रति अपार करुणा भरी हुई थी । प्राचीन काल से चले आ रहे महावीर-जीवन-चरित्रों में इस सम्बन्ध में भी एक मधुर प्रसंग है ।

० एक समय की बात है— भगवान् निर्जन वन में ध्यान लगाए खड़े थे । परिग्रह के नाम पर भगवान् के पास कुछ भी संपत्ति न थी । एकमात्र दीक्षा के अवसर पर ग्रहण किया हुआ देवदूष्य चीवर ही शरीर पर पड़ा हुआ था ।

० एक दरिद्र ब्राह्मण भगवान् के पास आकर प्रार्थना करने लगा—

“भगवन्, मुझ दरिद्र ब्राह्मण पर भी कृपा कीजिए। मैं सब प्रकार से भाग्य-हीन हूँ। और तो क्या, घर में खाने को एक जून का अन्न तक नहीं है। विपत्ति का मारा न जाने कहाँ - कहाँ भटका हूँ। यहाँ पर भी कितने भीषण जंगलों की खाक छानता हुआ श्रीचरणों में आया हूँ। दयालु ! दया करके मुझे भी कुछ अपना करुणा का दान दीजिए।”

भगवान् मौन थे।

“भगवन्, दास पर दया करनी ही होगी ! यह भूखा ब्राह्मण आपको छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाए ? किससे मांगे ?

भगवान् फिर भी मौन थे।

“भगवन् मौन क्यों हैं ? ऐसे कैसे काम चलेगा ? क्या कल्पवृक्ष के पास आ कर भी हताश हो कर जाना पड़ेगा ? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। मैं बिना कुछ लिए हर्गिज न जाऊँगा ? या तो आज से सुख की जिन्दगी होगी, या फिर मृत्यु की गोद। दोनों में से एक का निर्णय आपकी ‘हाँ’ और ‘ना’ पर निर्भर है।”

भगवान् समौन मन्थन में थे।

ब्राह्मण रोता हुआ भगवान् के चरणों से लिपट जाता है।

‘भद्र, यह क्या करता है ? रो मत, शान्ति रख।’

‘भगवन्, शान्ति कहां ? जीवन दूभर हो रहा है। भूख के कारण बिलखते परिवार का हाहाकार देखा नहीं जाता। और अधिक जोर से रोने लगता है।

“तो भद्र, अब क्या है मेरे पास। जब दीक्षा लेते समय मैंने संपत्ति छोड़ी, जनता को अर्पित की, तब तू क्यों नहीं आया ?”

“भगवन् आता कहां ? मुझ अभागे को खबर भी मिली हो ? मैं तो तब दूर देशों में दाने - दाने के लिए भटक रहा था। अब घर आया तो खबर मिली कि यहाँ तो सोने का महामेघ बरस चुका।”

“हाँ, तो भद्र, अब क्या हो सकता है ? अब तो मैं एक अकिंचन भिक्षु हूँ।”

“भगवन्, अब भी सब-कुछ हो सकता है ! आज भी आपके पास सब - कुछ है। आपके मुखारविन्द से शब्द निकलने की देर है, सोने का मेह बरस पड़ेगा।”

“भद्र, शान्त न हो ! भिक्षुत्व, शाप और अनुग्रह से परे की स्थिति है। क्या मैं यह साधना सोने का मेह बरसाने के लिए या जनता को चमत्कारों से विमुग्ध करने के लिए कर रहा हूँ ? सौम्य, मैं आत्म-सिद्धि का साधक हूँ, स्वर्ण - सिद्धि का नहीं।”

“भगवन्, कुछ भी करें, मेरा उद्धार तो करना ही होगा। आपके द्वार से भी खाली हाथ जाऊँ, यह तो असंभव

२० : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

है। दया करो, दीनबन्धु ! दया करो ! दीन ब्राह्मण पर दया करो !”

० ब्राह्मण प्रार्थना करता - करता गद्गद् हो जाता है। आँखों से अश्रु - धारा बह निकलती है। अन्त में फिर वह अवोध बालक की तरह भगवत् - चरणों से लिपट जाता है।

० भगवान् ब्राह्मण की दयनीय दशा पर दयार्द्र हो जाते हैं। देवदूष्य चीवर ब्राह्मण को दे देते हैं। भगवान् महावीर के ज्येष्ठ भ्राता राजा नन्दीवर्द्धन को जब इस घटना का पता लगता है, तो वह भगवान् के प्रेम और ब्राह्मण की दीनता को ध्यान में रख कर यथेष्ट धनदान के द्वारा वह चीवर उससे ले लेता है। ब्राह्मण जीवनभर के लिए सुखी हो जाता है। ‘धन्यो दयासागरः !’

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

० महापुरुषों की करुणा - वृष्टि मानव - समाज तक ही सीमित नहीं रहती, वह पशु-जगत् पर भी होती है और उसका कल्याण करती है। साधारण मनुष्य खूँखार जानवरों को देख कर भयभीत हो जाते हैं, उन्हें मारने दौड़ते हैं या भाग उठते हैं। परन्तु महापुरुष उनमें भी आत्मभाव के दर्शन करते हैं, और उनसे वैसे ही मिलते हैं, जैसे अपने किसी स्वजन से मिलते हों। परन्तु, शर्त यह है कि सच्ची महापुरुषता होनी चाहिए।

० भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुष थे। वे केवल मानव कल्याण के लिए ही नहीं, विश्व-कल्याण के लिए, प्राणिमात्र के कल्याण के लिए निकले थे। फलतः अपने जीवन - मरण की कोई परवाह न कर, वे हिंस्र-से-हिंस्र जन्तुओं के पास भी पहुंचते और उन्हें सद्भावना का पाठ पढ़ाते थे। यह महाप्रभाव उनको साधना काल में ही मिल चुका था, जिसके द्वारा उन्होंने नागराज चण्डकौशिक का भी उद्धार कर दिया था। घटना इस प्रकार है—

भगवान् महावीर एक वार श्वेताम्बिका नगरी की ओर जा रहे थे। इस सुरम्य प्रदेश में इधर-उधर चहुं ओर प्रकृति का वैभव बिखरा हुआ था। भगवान् के तपस्तेजोमय देदीप्यमान देह की आभा वन-प्रदेश पर छिटक रही थी। भगवान् आत्म-भाव की मस्ती में भ्रूमते चले जा रहे थे।

० मार्ग में कुछ गोपाल चरवाहे मिले। उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—

“मुनिवर, इधर न जाइए। इधर कुछ दूर आगे निर्जन प्रदेश में महाभयंकर ‘चण्डकौशिक’ सर्प रहता है। वह दृष्टिविष है। देखने भर से दूर-दूर तक के वायुमण्डल को विषाक्त बना देता है।”

० भगवान् मौन रहे। आगे बढ़ने लगे।

“भिक्षु, हम तुम पर दया ला कर ही यह सब कह रहे

२२ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

हैं। क्यों, व्यर्थ ही अपना जीवन नष्ट करते हो ! अधिक हठ करना अच्छा नहीं होता !”

“मैं हठ कहाँ कर रहा हूँ। मैं पथिक हूँ, अपने गन्तव्य पथ की ओर जा रहा हूँ।”

“आपको इधर जाना ही है, तो इस दूसरे मार्ग से जा सकते हैं ! सर्प के भय से लोग फेर खा कर भी इसी दूसरे मार्ग से बच कर जाते हैं !”

मैं किसी भी प्रकार के भय से इधर - उधर मार्ग नहीं बदलता। मैं भयमुक्ति की साधना में संलग्न तपस्वी हूँ। जीवन में सिंहवृत्ति का आदर्श लेकर घर से निकला हूँ।”

“चण्डकौशिक के आगे बेचारा सिंह क्या कर सकता है ? वह तो अपनी एक ही फुफ्फुकार में बलवान से बलवान प्राणी को भी सदा के लिए पृथ्वी पर सुला देता है।”

‘जहर का असर जहर पर ही तो होता है, अमृत पर तो नहीं ! संसारी जीव अन्दर में विकारों के विष से लवालव भरे होते हैं, अतः बाहर के जहर से भी कांपते हैं। परन्तु अमृतत्व के साधक पर चण्डकौशिक का क्षुद्र जहर क्या असर करेगा ? कभी आत्मा को आत्मा से भी भय हुआ है ? भय का दर्शन विजाति के सम्बन्ध में होता है, स्वजाति के सम्बन्ध में नहीं। चण्डकौशिक भी तो मेरी ही तरह एक आत्मा है।”

“भूठी फिलासफी बघारने में क्या रखा है ? वहाँ जाना है, तो जीवन की आशा न रखिए, मृत्यु को आगे रख कर जाइए । आप जैसे सैकड़ों साहसी वहाँ गए तो हैं, पर लौटा कोई नहीं ।”

“बहुत ठीक ! यदि मेरे जीवनोत्सर्ग से सर्प को कुछ भी परिबोध हो सका, वह शान्त हो सका, तो यह लाभ क्या कुछ कम है ? मैं जा रहा हूँ, आप मेरी चिन्ता न करें ।’

० गोपाल रोकते ही रहे, परन्तु भगवान् आगे बढ़ गए । चण्डकौशिक के निवास-स्थान पर पहुँच कर भगवान् कायोत्सर्गमुद्रा में ध्यान लगाकर खड़े हो गए । कौशिक फुफकार मारता हुआ वांवी से बाहर निकला । भगवान् पर इसका जरा भी असर न हुआ । कौशिक क्षुब्ध हो उठा, दूने वेग से उसने फुफकार मारी, फिर भी कुछ न हुआ । अब तो वह अपनी असमर्थता पर खीज उठा । भरपूर आवेश में आ कर चरणों में दंश भी मारा । फिर भी कुछ असर नहीं—कौशिक स्तब्ध हो गया, यह क्या ?

“नागराज ! किस द्विविधा में हो ? जैसे चाहो, काट सकते हो, जी भर काट सकते हो । मैं तुम्हारे सामने हूँ, जाता नहीं हूँ ।”

० कौशिक टकटकी लगाए देखता रहा !

“कौशिक, दूसरे पामर जीवों को सताने से क्या लाभ ? मैं प्रसन्नता के साथ तुम्हें अपना समस्त शरीर अर्पण

२४ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

कर रहा हूँ। कोई शीघ्रता नहीं, खूब तसल्ली के साथ प्यास बुझा सकते हो, तृप्त हो सकते हो”

० कौशिक महावीर की ओर एक टक देखता रहा !

“भद्र, किस असमंजस में हो ? मुझे दुःख है कि तुमने व्यर्थ ही क्यों सैकड़ों मनुष्यों को सताया, कष्ट पहुँचाया, जीवन से हीन किया ? तुम्हें पता नहीं, इस दुष्कर्म का क्या परिणाम होगा ? पूर्वजन्म के पापों ने तुम्हें सर्प बनाया, अब के पाप तुम्हें क्या बनाएँगे ? जरा सोचो-समझो तो सही !”

० कौशिक टकटकी लगाए देखता-सुनता रहा ।

“देवानुप्रिय, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। संभल जाओ, क्षोभ की प्रकृति को छोड़ दो ! जीवन की सार्थकता दूसरों को कष्ट पहुंचाने में नहीं, सुख पहुंचाने में है। दुर्भाग्यवश यदि तुम किसी को सुख नहीं पहुंचा सकते, तो कम-से-कम तो दुःख तो न पहुंचाओ !”

० भगवान् के सुधा-भरे शीतल वचनों से नागराज कुछ-कुछ होश में आया। विचार-सागर में डूब गया। सहसा उसे पूर्वजन्म का भान हो आया। पूर्वपापों का दृश्य, चल-चित्र की तरह उसकी आँखों के सामने झलकने लगा। हृदय विकल हो उठा। भगवान् के चरणों में वह मस्तक टेक देता है, अपने कृत अपराध की दीनभाव से क्षमा मांगने लगता है।

० सर्पराज का प्रस्तर हृदय आज दयालुदेव की दिव्य दया-दृष्टि से पिघल उठा। वह बार - बार प्रभु को देखता जाता है, रोता जाता है। अन्तर् की चिर-संचित पाप - कालिमा, आज मानो आँखों से आसुओं के रूप में झर-झर कर बाहर बह निकली।

० भगवान् ने सान्त्वना दी, दया का उपदेश दिया। नागराज ने आज से किसी भी प्राणी को कुछ भी पीड़ा न देने का प्रण लिया।

० भगवान् चण्डकौशिक को प्रतिबोध देकर श्वेताम्बी की ओर चले गए। नागराज विष के स्थान में अमृत का पाठ पढ़ने लगा। लोग आश्चर्य में थे कि यह क्या हुआ? आस - पास के उजड़े हुए तापसाश्रम फिर बस गए थे। जिस सर्प से एक दिन देश-का-देश भयत्रस्त था, जिसे मारने के लिए वह मंत्र - तंत्रों के अनेकानेक प्रयोग कर रहा था, आज वही उसकी पूजा के सामान जुटा रहा था। सर्पराज की घर-घर पूजा हो रही थी! भगवान् उसे विषधर सर्प की जगह सर्प से अमृतधर देव जो बना चुके थे!

क्षमा की पराकाष्ठा

० भगवान् महावीर शान्ति - साधना के सर्वमंगल शिखर पर पहुंच गए थे। समग्र विश्व के प्रति, फिर

भले ही वह स्नेही हो अथवा द्वेषी— उनके हृदय में कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। विरोधी-से-विरोधी भी उनकी अपार क्षमा, अपार शान्ति एवं अपार प्रेम को देख कर सहसा गद्गद् हो जाता था। एक घटना के द्वारा यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है—

स्वर्गलोक में एक दिन देव-सभा लगी हुई थी। देव-राज इन्द्र, रत्नजटित सिंहासन पर अपनी पूरी छवि के साथ विराजमान थे। अप्सराएँ नाच रही थीं, वाद्यों की मधुर स्वर-लहरे गूँज रही थी, सभा नृत्य और गान में भ्रान्त भूले हुए थी।

० देवराज इन्द्र शरीर से सिंहासन पर थे, परन्तु मन वहाँ न था। वह मर्त्यलोक में प्रभु महावीर के दर्शन कर रहा था। भगवान् शून्य वन में प्रकृति के भीषण उपद्रवों में भी प्रशान्त महासागर के समान शान्त थे। इन्द्र प्रभु की अद्भुत तितिक्षा को देख कर सहसा चकित हो उठे—

“प्रभो ! कितना दिव्य धैर्य है ! कितना अदम्य साहस है ! ये प्रकृति के उपद्रव भला आपको कभी पराजित कर सकते हैं ? शक्तिशाली देव और दैत्य भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। आप तो वज्र-प्रकृति के बने हैं। आप यथानाम तयागुण हैं। आप वस्तुतः सच्चे अर्थ में महावीर हैं।”

० देव-सभा में सभी ने तुमुल जयघोष के साथ अनुमोदन किया। परन्तु संगमदेव के हृदय में यह बात न पैठ सकी। वह एक वैभवशाली प्रतिष्ठित देव था और उसे अपने दिव्य दैवी-बल पर घमंड भी बहुत अधिक था। वह भगवान् के पास उन्हें पथ-म्रष्ट करने पहुंचा।

० संगम ने उपसर्गों का तूफान खड़ा कर दिया। जितना भी वह कष्ट दे सकता था, दिया। शरीर का रोम-रोम पीड़ा से वींध डाला। फिर भी पीड़ा से विचलित न हुए, तो प्रलोभनों का जाल बिछाया गया। आकाश-लोक से एक-से-एक सुन्दर अप्सराएँ उतरीं। नृत्य हुआ, गान हुआ, हावभाव प्रदर्शित हुए, सब-कुछ हुआ, परन्तु भगवान् का हृदयमेरु, तनिक भी प्रकम्पित नहीं हुआ।

० इने-गिने दिन नहीं, पूरे छह महीने तक दुःख-सुख और सुख-दुःख का तांता बंधा ही रहा। अन्त में संगम का धैर्य ध्वस्त हो गया। वह हार गया। परन्तु, हारा हुआ भी अपनी बात जरा ऊपर रखने को बोला—

“भगवन् ! आप जानते हैं, मैं संगमदेव हूँ। यह जो कुछ भी हो रहा था, आपकी परीक्षा के लिए हो रहा था। और, कोई हेतु नहीं था मेरा। पर अब विचार

करता हूँ कि क्यों किसी साधक को सताया जाए ? मैं देख रहा हूँ कि इन छह महीनों में आपको बहुत कष्ट रहा है। आप अच्छी तरह संयम की आराधना नहीं कर सके हैं। अतः प्रभो, अब आप आराम के साथ साधना कीजिए, मैं जा रहा हूँ। दूसरे देवों को भी रोक दूँगा, आपको अब कोई कष्ट नहीं दे पाएगा।”

० भगवान् की आँखें करुणा से छलछला आईं।

“भगवान् यह क्या ! कोई कष्ट है ?”

“हाँ संगम, कष्ट है ! बहुत बड़ा कष्ट है !”

“भगवन् क्या कष्ट है ? जरा बताइए तो सही, मैं उसे दूर करूँगा।”

“संगम, क्या दूर करोगे ? वह तुम्हारे वश की बात नहीं”

“फिर भी ?”

“संगम, तुम समझते होगे कि मैं अपने कष्ट की बात कह रहा हूँ ! वत्स, यह बात नहीं है। मैं अपने कष्टों की कभी चिन्ता नहीं करता। छह महीने तो क्या, छह वर्ष भी कष्ट देते रहो, तब भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ता। तुम्हारे दिए ये सब कष्ट तन तक ही रहे हैं, अन्दर में मन तक तो इसका एक अणुभर अंश भी नहीं पहुंचा है। अपितु मैं तो इन कष्टों से अधिकाधिक संवरता हूँ, बिगड़ता नहीं। हाँ, तो वह कष्ट और ही है”

“वह कौन - सा है ?”

“वह यह कि तुमने अज्ञानता के कारण मुझे जो कष्ट पहुँचाए हैं, इसका भविष्य में क्या फल मिलेगा ? इसका तुम्हें कुछ पता नहीं, किन्तु मुझे पता है। जब मैं तेरे उस अन्धकारपूर्ण भविष्य पर नजर डालता हूँ, तो कांप उठता हूँ। एक अबोध जीव मेरे निमित्त से बांधे गए दुष्कर्मों के फलस्वरूप कितनी भीषण यातना भोगेगा, कितना कष्ट पाएगा ? आह...कितना दारुण दुःख है ! भद्र जैसे भी हो सके, शान्ति-लाभ कर।

० भगवान के हृदय में करुणा का समुद्र हिलोरें लेने लगता है। आँखों से सद्भावना के करुणाश्रु फिर बहने लगते हैं।

संगम करुणामूर्ति के इस अभिनव करुणाप्लावित हृदय को देख कर पानी - पानी हो जाता है।

कितना दिव्य और लोकोत्तर जीवन, कितना आदर्श विश्व - प्रेम। भगवान् की अमृत-रस-भरी दृष्टि में शत्रु और मित्र का द्वैत कभी रहा ही नहीं। वहाँ मित्र भी मित्र था और शत्रु भी मित्र !

श्रमण भगवान् महावीर करुणा के देवता हैं। वे व्यक्ति या समाज पर होने वाले किसी भी प्रकार के अत्याचार एवं उत्पीड़न को कभी दरगुजर नहीं कर

सकते हैं। जैसे भी होता है, महावीर अत्याचार के विरोध में तन कर खड़े होते हैं, उसका निर्द्वन्द्व भाव से प्रतीकार करते हैं। देश, धर्म या समाज की किसी भी परम्परा को पुरातनता के नाम पर उन्होंने कभी फूल नहीं चढ़ाए। उनका निर्णय पुरातनता और नवीनता पर आधारित नहीं है, जो भी निर्णय है, वह सत्यता और उपयोगिता के आधार पर है।

भारत में बहुत पहले से दासप्रथा चली आ रही थी। महावीर के युग में उसने अत्यन्त उग्ररूप धारण कर लिया था। दासों का इतना भयंकर उत्पीड़न कि उसमें मानवता का कुछ भी अंश नहीं रह गया था। दास केवल शरीर से ही आदमी थे, व्यवहार में उनकी स्थिति पशुओं से भी गई गुजरी थी। दास और दासी खरीदे जाते थे, बेचे जाते थे, पति कहीं तो पत्नी कहीं, पुत्र कहीं तो पुत्री कहीं। दासियों का कोई चारित्र नहीं था, शील नहीं था। वे मालिकों की रखैल होती थीं। उनसे काम-धंधा कराने के साथ-साथ वासना-पूर्ति भी की जाती थी।

कौशाम्बी नरेश शतानीक ने 'चंपा' पर विजय प्राप्त की थी। विजय के उन्माद में अंग की समृद्ध राजधानी चंपा को बुरी तरह लूटा गया। धन-सम्पत्ति ही नहीं, स्त्री-पुरुष भी लूटे गए। उन्हें दास-दासी के

रूप में कौशाम्बी के दास-बाजार में पशुओं की तरह बेचा गया। अंगनरेश की सुपुत्री चन्दना भी बाजार में बिक रही थी, वेश्याएँ अपने धंधे के लिए उस अप्सरा-सी रूपसी कन्या को खरीद रही थीं। सौभाग्य से श्रेष्ठी धनावह ने उसके शील की रक्षा हेतु उसे खरीद लिया। राजकीय विधान के अनुसार वह सेठ की दासी थी, परन्तु सेठ के यहाँ दासी का काम करती हुई भी वह एक प्रिय पुत्री की तरह जीवनयापन कर रही थी। सेठ की पत्नी को आशंका हुई कि कहीं इस सुन्दर दासी को सेठ अपनी रखैल न बना ले। इस प्रकार की शंका उस युग की किसी भी गृहिणी को सहज ही हो सकती थी, चूँकि तत्कालीन समाज का वातावरण ही कुछ ऐसा था।

एक दिन सेठ की अनुपस्थिति में सेठानी ने उसे हथकड़ी बेड़ी से बाँध कर कैद में डाल दिया। तीन दिन तक न अन्न का एक दाना, न पानी की एक बून्द। चौथे दिन उसे पशुओं के लिए तैयार किए गए कुलथी (उड़द) के वाकले खाने को मिले। श्रमण भगवान् महावीर उन दिनों कौशाम्बी में थे। पाँच महीने पच्चीस दिन हो गए थे, उन्हें निराहार रहते। किसी भी अभिजात धनी कुल से उन्होंने आहार नहीं लिया था। महावीर ने उड़द के वाकलों का आहार लिया था, दासी चन्दना के हाथ से।

दास शूद्र से भी अधिक निम्न स्तर का अधम व्यक्ति है समाज का। उससे कोई भी धर्मगुरु आहार लेना पसन्द नहीं करता। दास के हाथ का भोजन भला कोई कैसे ले सकता है ? परन्तु महावीर ले लेते हैं। चूँकि महावीर की दृष्टि में मानव-मानव सब एक है। मानव को दास बनाना, यह मानवता का अपमान है। महावीर की करुणा दास-प्रथा के विरोध में उदग्र हो उठती है। महावीर के आहार लेने पर चन्दना दासता के बन्धन से मुक्त हो जाती है। महावीर ने अन्यत्र भी एक दासी के हाथ से भोजन लिया है। अस्तु, आगे चलकर इसी सन्दर्भ में तीर्थकर महावीर घोषणा करते हैं—“कोई भी श्रावक दासों के क्रय-विक्रय का व्यापार नहीं कर सकता।” दासप्रथा के विरोध में महावीर ने इस प्रकार बन्धन-मुक्ति के एक सात्त्विक आन्दोलन का सूत्रपात किया।

भगवान् महावीर के संघ में अनेक दासों तथा दासियों ने श्रमण-दीक्षा ली। अनेक दास और दासी उनके उच्चतम श्रावक और श्राविका बने। और तो क्या, हरिकेश-बल जैसे घृणापात्र चाण्डाल भी मुनि-धर्म में दीक्षित हुए हैं। महावीर ने धर्म के, जीवन विकास के और स्वतन्त्रता के द्वार सभी के लिए खोल दिए। हे करुणा के सागर, बन्धन-मुक्ति के अमर देवता, तेरे चरणों में शत-शत प्रणाम !



तीर्थकर जीवन

अहंति के पद पर :

० भगवान् महावीर साढ़े बारह वर्ष तक यत्र-तत्र करुणा की अमृत-वर्षा करते हुए आत्म-साधना में लीन रहे। प्रायः निर्जन वनों में रहना, हिंस्र पशुओं का रौद्र आतंक सहना, भ्रममुग्ध मनुष्यों और देवों के उपद्रवों को प्रसन्न वित्त से सहना, छह-छह महीने तक अन्न का एक कण और जल की एक बूँद भी मुँह में नहीं डालना। ओफ ! कितना उग्र तपस्वी जीवन था वह !

० हाँ, तो भगवान् उग्र तपःसाधना करते हुए बिहार प्रदेश के 'जंभिय' गाँव के पास बहने वाली 'ऋजुवालुका' नदी के तट पर पहुंचे। वहाँ साल का एक सघन वृक्ष था। उसके नीचे गोदुह-आसन से वे ध्यानस्थ हो गए। दो दिन से उनका निर्जल निराहार उपवास था। दूसरे दिन का संध्याकाल था। भगवान् की आत्मलीनता चरम सीमा पर पहुंच रही थी। आत्मा पर से ज्ञानावरण आदि घनघाति कर्मों का

३४ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

आवरण हटा और महावीर केवलज्ञान और केवल-दर्शन के धर्ता बने। नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बने। जैन परिभाषा के अनुसार अब आप अर्हन्त और जिन हो गए, तीर्थंकर हो गए।

० वैशाख शुक्ला दशमी का कैवल्य-प्राप्ति का यह शुभ दिन जैन इतिहास में सदा के लिए अजर-अमर रहेगा। आज के दिन ही भगवान् की सबसे पहली देशना (प्रवचन) दिव्यध्वनि के रूप में मुखरित हुई, जन-जीवन के मंगल-कल्याण के लिए।

सत्य का जघघोष

० महापुरुषों के जीवन की विशेषता एकमात्र स्वयं सत्य की प्राप्ति में ही नहीं है, अपितु उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो प्राप्त सत्य को अन्धकाराच्छन्न मानव-संसार के सम्मुख रखने में है। सूर्य का महत्त्व अपने लिए अन्धकार का नाश करने में ही नहीं है, प्रत्युत चराचर विश्व को प्रकाश देने में है।

० भगवान् महावीर कैवल्य-लाभ कर चुके थे, अपनी दृष्टि से कृतकृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो अब आराम के साथ एकान्त जीवन बिता सकते थे, परन्तु वे तो सच्चे महापुरुष थे। वे तब तक तो जन-जन-सम्पर्क से दूर रहे, जब तक वे स्वयं आत्म-प्रकाश

की शोध में रहे। ज्यों ही आत्म-प्रकाश पाया कि संसार को प्रकाश देने में जुट गए। कौन महापुरुष संसार को विनाश के गर्त में गिरता देखकर चुपचाप बैठा रह सकता है? आराम के साथ जीवन विताना महापुरुष की परिभाषा नहीं है। महापुरुष की अनादिकाल से परीक्षित एवं प्रमाणित एक ही परिभाषा है और वह है--विश्वकल्याण के लिए संघर्ष...संघर्ष...सतत संघर्ष !

० भगवान् ने कैवल्य प्राप्त करते ही तत्कालीन रूढ़ियों के विरोध में यथार्थ सत्य का शखनाद गुंजा दिया। सत्य का वास्तविक स्वरूप, जो पाखंडों के तमस् में धुंधला पड़ गया था, फिर से यथार्थरूप में जनता के सामने रखा। जनता के विचारों में क्रान्ति का मंत्र फूँका। तो, इस तरह सोया हुआ मानव-संसार फिर से जागरण की अँगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ।

० भगवान् महावीर के धर्म प्रचार - क्षेत्र में आते ही धर्म - ध्वजी - वर्ग में हलचल मच गई। जिज्ञासु-संसार इस नवागन्तुक धर्म - गुरु की गति - विधि को देखने लगा कि यह क्या करने जा रहा है? सत्य का प्रचार ज्यों - ज्यों आगे बढ़ता गया, त्यों - त्यों जिन-

३६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

धर्म का उच्च, उच्चतर और उच्चतम जय - घोष
भारत में चहुँ ओर गूँजने लगा ।

यज्ञों का विरोध :

० भगवान् ने सबसे पहला प्रहार उस समय के
हिंसामय यज्ञों पर किया । हजारों मूक पशुओं का
धर्म के पवित्र नाम पर रक्त बहता देख उनकी दयार्द्र
आत्मा सिहर उठी थी । भगवान् ने पशु - बध-मूलक
यज्ञों का मूलोच्छेद करने के लिए कसर कस ली ।
अपने धर्म - प्रवचनों में वे खुल्लम-खुल्ला यज्ञों का
खडन करने लगे । आपका कहना था—

“धर्म का सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता से है । मूक
पशुओं का रक्त बहाने में धर्म कहाँ ? यह तो आमूलचूल
भयंकर पाप है । जब तुम किसी मृत-जीव को जोवन
नहीं दे सकते, तो उसे मारने का तुम्हें क्या अधिकार
है ? पैर में लगा जरा - सा काँटा जब तुम्हें बेचैन कर
देता है, तो तलवार से जिनके शरीर के खण्ड - खण्ड
कर देते हो, उन्हें कितना दुःख होता होगा ?

० यज्ञ करना बुरा नहीं है । वह अवश्य होना
चाहिए । परन्तु ध्यान रखो कि वह विषय - विकारों
की बलि से हो, पशुओं की बलि से नहीं । अहिंसक
यज्ञ के लिए आत्मा का अग्निकुण्ड बनाओ । उसमें

मन, वचन और कर्म की शुभ प्रवृत्तिरूप घृत उंडेली । अनन्तर तपरूपी अग्नि के द्वारा दुष्कर्मों को इन्धन के रूप में जला कर शान्तिरूप प्रशस्त होम करो ।”

० भगवान् की इस अहिंसाधर्म की देशना का जनता पर प्रभावशाली असर हुआ । यज्ञ - प्रिय जनता के शुष्क हृदयों में करुणा का स्रोत फूट निकला ।

० यज्ञों का कैसे ध्वंस हुआ ? महावीर के तीर्थंकर जीवन की सबसे पहली महत्त्वपूर्ण घटना ने ही तत्कालीन भारतीय विचार - प्रवाह को नयी दिशा दी, नया मोड़ दिया ।

० मध्य पावानगरी में उन दिनों एक विराट् - यज्ञ का आयोजन था । हजारों की संख्या में देश के महान् विद्वान् ब्राह्मण वहाँ एकत्र थे । यज्ञ - मंत्रों के तुमुल घोष से पावा गूँज रही थी । यह यज्ञ उस समय के इन्द्रभूति गौतम आदि सुप्रसिद्ध ग्यारह विद्वानों के तत्त्वाधान में हो रहा था । इस यज्ञ की चारों ओर बड़ी धूम थी ।

० भगवान् महावीर कैवल्य पाते ही “ऋजुबालुका तट” पर से वैशाखशुक्ला एकादशी के दिन सीधे पहुंचे महासेन वन में । वहाँ समवसरण लगा और पशु - यज्ञ के विरोध में धड़ल्ले से ज्ञानयज्ञ एवं तपो - यज्ञ का प्रचार किया जाने लगा । जनता उमड़ पड़ी ।

यज्ञ - स्थल सूना हो गया। इन्द्रभूति गौतम बड़ा घमंडी विद्वान् था। वह अपने ५०० शिष्यों के साथ भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने पहुँचा। भगवान् ने युक्तिपुरःसर प्रवचनों से इन्द्रभूति गौतम को सत्य का रहस्य समझाया। इन्द्रभूति की आँखों के आगे से मानो अन्धकार दूर हो गया। वह उसी समय वहीं भगवान् के चरणों में अपने पाँच-सौ शिष्यों के साथ प्रव्रजित हो गया। यह इन्द्रभूति हमारे वही गौतम गणधर हैं, जिनके नाम को आज जैन-समाज का बच्चा - बच्चा जानता है।

० इन्द्रभूति के प्रव्रजित होने का समाचार ज्यों ही नगर में पहुँचा, तहलका मच गया। बारी-बारी से शेष दस विद्वान् भी आते गए, शास्त्रार्थ करते गए, सत्य का वास्तविक स्वरूप समझते गए और अपने-अपने शिष्य-मंडल के साथ भगवान् के चरणों में प्रव्रजित होते गए। इस प्रकार एक दिन में ग्यारह विद्वानों और उनके चार हजार चार सौ शिष्यों को भगवान् ने जिन-धर्म की मुनि-दीक्षा दी। इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह विद्वानों को गणधर पद पर नियुक्ति किया, जिसे उन्होंने अन्त तक बड़ी सफलता के साथ निभाया।

० धर्म-प्रचार की दिशा में भगवान् की यह पहली सफलता थी, जिसने सहसा जनता की मोहनिद्रा भंग कर दी। अब तो दूर-दूर तक भगवान् की ख्याति फैल गई। बड़े-बड़े विचारक धर्मगुरु, जननायक और साधारण जन भगवान् के पास आते, समाधान पाते और उनके संघ में सम्मिलित हो जाते थे।

जातिवाद का ह्वंस !

० भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में जातिवाद की खूब खबर ली। अखण्ड मानव-समाज को छिन्न-भिन्न कर देने वाली जात-पात की जन्मजात व्यवस्था के प्रति आष प्रारम्भ से ही विरोध की दृष्टि रखते थे।

आपका कहना था—“कोई भी मनुष्य जन्म से उच्च या नीच बन कर नहीं आता। जाति-भेद का कोई ऐसा स्वतन्त्र चिह्न नहीं है, जो मनुष्य के शरीर पर जन्म से ही लगा हुआ आता हो और उस पर से पृथक्-पृथक् जात-पात का भान होता हो।

० ऊँच-नीच की व्यवस्था का यथार्थ सिद्धान्त मनुष्य के अपने भले - बुरे कर्मों पर निर्भर करता है। बुरा आचारण करने वाला दुराचारी उच्च कुलीन

व्यक्ति भी नीच है, और अच्छा आचरण करने वाला सदाचारी नीच कुलीन भी ऊँच है। जन्म से श्रेष्ठ कही जाने वाली जातियों का कोई मूल्य नहीं। जो मूल्य है, वह शुद्ध आचार और शुद्ध विचार का है। मनुष्य अपने भाग्य का स्रष्टा स्वयं है। वह इधर, नीचे की ओर गिरे तो मनुष्य से राक्षस हो सकता है और उधर, ऊपर की ओर चढ़े तो देव, देवेन्द्र, यहाँ तक कि परमात्मा, परमेश्वर भी हो सकता है। मुक्ति का द्वार मनुष्य मात्र के लिए खुला है—ऊँच के लिए भी, नीच के लिए भी।

‘किसी भी मनुष्य को जात-पाँत के आधार पर घृणा की दृष्टि से न देखा जाए। मनुष्य किसी भी जाति का हो, किसी भी कुल का हो, किसी भी देश या प्रदेश का हो, वह मानवमात्र का जाति-बन्धु है। उसे सब तरह से सुख - सुविधा पहुँचाना, उसका यथोचित आदर-सम्मान करना, प्रत्येक मनुष्य का मनुष्यता के नाम पर सर्व-प्रधान कर्तव्य है।’

० भगवान् उपदेश दे कर ही रह गये हों, यह बात नहीं। उन्होंने जो कुछ कहा, उसे आचरण में ला कर समाज में रचनात्मक क्रान्ति की सक्रिय भावना भी पैदा की।

० आर्द्रकुमार जैसे आर्यतर जाति के युवकों को उन्होंने अपने मुनि - संघ में दीक्षा दी । हरिकेश जैसे चाण्डाल - जातीय मुमुक्षुओं को अपने भिक्षु - संघ में वही स्थान दिया, जो ब्राह्मण श्रेष्ठ इन्द्रभूति गौतम को मिला हुआ था । इतना ही नहीं, अपने धर्म - प्रवचनों में यथावसर इन निम्नजातीय साधकों की मुक्तकठ से प्रशंसा भी करते थे । चाण्डाल मुनि हरिकेश के लिए महावीर ने कहा था— “प्रत्यक्ष में जो कुछ भी विशेषता है, वह तप - त्याग आदि सद्गुणों की है । ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च वर्णों या जातियों की नहीं । श्वपाकपुत्र चाण्डाल हरिकेशमुनि को देखो— अपने सदाचार के बल पर कितनी ऊँची स्थिति को पहुँचा है, जिसके चरणों में देव भी वन्दन करते हैं ।”

० भगवान् की प्रवचन सभा में, जिसे जैन-परिभाषा में समवसरण कहते हैं, जातिवाद - सम्बन्धी नीचता या उच्चता के लिए कोई स्थान न था । किसी भी जाति का हो, कोई भी हो, अपनी इच्छानुसार आगे-पीछे कहीं भी बैठ सकता था । उसे इधर - उधर हटा देने का, दूर कर देने का, स्पष्टतः निषेध था । यही कारण है कि हम भगवान् के समवसरण में सम्राट् श्रेणिक, याज्ञिक सोमिल और हरिकेश जैसे चाण्डाल आदि सभी को बिना किसी भेद-भाव के एक सहोदर

४२ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

भाई के समान एक साथ बैठे देखते हैं। विश्व-बन्धुता का कितना महान् ऊँचा आदर्श है ! काश, आज भी हम इसे ठीक तरह समझ पाएँ।

नारी - जीवन का सम्मान :

० अभिमानी पुरुष - वर्ग की ठोकरी में चिरकाल से भूलुंठित रहने वाली नारी - जाति ने भी भगवान् को पाकर खड़े होने की कोशिश की। भगवान् ने, सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों से चिरद्वेषित मातृ - जाति को आह्वान किया और उसके लिए स्वतन्त्रता का द्वार खोल दिया।

० भगवान् कहा करते थे कि धर्म का संबंध आत्मा से है। स्त्री और पुरुष के लिंग - भेद के कारण उसके असली मूल्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस प्रकार पुरुष धर्माराधना में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार स्त्री भी स्वतन्त्र है। कर्म - बन्धनों को काट कर मोक्ष पाने के दोनों ही समानरूप से अधिकारी हैं।

० भगवान् की छत्र-छाया में नारी-समाज ने आराम के साथ स्वतन्त्रता की साँस ली। स्त्री-जाति का एक स्वतन्त्र भिक्षुणी-संघ भी स्थापित हुआ था, जिसमें ३६ हजार भिक्षुणियाँ धर्माराधन करती थी, विशेष उल्लेखनीय बात यह थी कि भिक्षुणी-संघ का नेतृत्व भी भिक्षुणी को ही सौंपा हुआ था, जिनका शुभ नाम

आर्या चन्दना था। आर्या चन्दना के गौरव-गान से आज भी साहित्याकाश अनुगुंजित है।

० भगवान् के समवसरण में स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही गौरवपूर्ण अधिकार था। हर कोई स्त्री समवसरण में आ सकती थी, भगवान् के दर्शन कर सकती थी, शंका - समाधान में भाग ले सकती थी। कोई भी ऐसी बाधा न थी, जिससे कि वह अपने मन में कुछ भी अपमान का अनुभव करे।

० भगवतीसूत्र में उल्लेख आता है कि— कौशाम्बी की राजकुमारी जयन्ती भगवान् से बड़े गंभीर प्रश्न पूछा करती थी, भगवान् से तर्क-वितर्क किया करती थी। दार्शनिकता से परिपूर्ण प्रश्नोत्तरी का वह प्रसंग आज भी भगवतीसूत्र में लिखा मिलता है, जो आज के महनीय विद्वानों को भी चमत्कृत कर देता है। स्त्री - जाति का गौरव और स्वतन्त्र विचार-शक्ति का आभास आज भी हमें जैन साहित्य के पन्ने पलटने पर हर कहीं मिल सकता है।

जन सेवा ही जिज्ञा सेवा :

० भगवान् महावीर बाह्याचार से संबन्धित धार्मिक क्रियाकण्डों की अपेक्षा जीवनोपयोगी सहज क्रिया-कलाप पर ही अधिक भार देते थे। वे उस जीवन को कोई महत्त्व न देते थे, जो जन-सेवा से दूर रह कर

मात्र धर्म एवं भक्ति के नाम पर अर्थ-शून्य क्रिया-कांडों में ही उल्लास रहता हो। प्राचीन आगम-साहित्य में उनके इस उदार व्यक्तित्व की जगह-जगह छाप लगी मालूम होती है। अधिक विस्तार में न जा कर केवल एक संक्षिप्त-सा संवाद ही यहाँ लिख देते हैं, जो गण-धर गौतम और भगवान् महावीर के बीच हुआ था—
 “भगवन् ! सेवा में एक प्रश्न है— दो व्यक्ति हैं, उनमें से एक हमेशा केवल आपकी ही भक्ति एवं उपासना में लगा रहता है, फलतः जन-सेवा के लिए कुछ भी समय नहीं निकाल पाता। दूसरा दिन-रात दीन-दुःखी पीड़ित जनता की सेवा में ही जुटा रहता है, उसको आपकी भक्ति-उपासना करने का अवकाश नहीं... ..!”

“भगवन् ! मैं पूछता हूँ कि इन दोनों में कौन धन्य हैं, कौन अधिक श्रेय का अधिकारी है ?”

“गौतम ! वह, जो जन-सेवा का काम करता है।”
 “भगवन् ! यह कैसे ? क्या आपकी भक्ति कुछ नहीं ?”
 “गौतम ! मेरी भक्ति का अर्थ यह नहीं कि मेरा नाम रटा जाए, मेरी पूजा - अर्चना की जाए। वस्तुतः मेरी भक्ति, मेरी आज्ञा का पालन करने में है। और मेरी आज्ञा है—प्राणि-मात्र को यथोचित सुख, सुविधा, एवं शान्ति पहुँचाना।”

• भगवान् महावीर का जन-सेवा के सम्बन्ध में

क्या आशय था, यह इस संवाद पर से अच्छी तरह समझा जा सकता है। भगवान् जन-सेवा में ही अपनी सेवा मानते थे। जहाँ तक हमें पता है, संसार के अन्य अनेक प्राचीन महापुरुषों में भगवान् महावीर ही सर्वप्रथम महापुरुष हैं, जिनका जन-सेवा के सन्दर्भ में यह सबसे पहला महान् ज्योतिर्मय वचन है।

यथार्थ भाषी :

० भगवान् महावीर ने अपने जीवन में कभी किसी व्यक्ति के दबाव में आ कर सत्य का अपलाप नहीं किया। चाहे कोई महान् सम्राट् रहा हो, या और कोई, उन्होंने निःसंकोच यथार्थ सत्य का प्रतिपादन किया। एक सच्चे महापुरुष में जो स्पष्टवादिता होनी चाहिए, वह उनमें सौ-में-सौ नंबर थी।

० मगध-सम्राट् अजातशत्रु भगवान् का बड़ा ही कट्टर भक्त था। उसने प्रतिदिन प्रातःकाल प्रभु के सुख-समाचार पाने की व्यवस्था की हुई थी। बिना भगवान् के दर्शन पाए या समाचार पाए, कहते हैं, वह और तो क्या जल की एक बूंद भी मुँह में न डालता था। परन्तु, उसका आन्तरिक जीवन गिरा हुआ था।

० भक्ति की उजली चादर में वह अपने दुर्भाव के काले दाग जनता से छुपाए हुए था। परन्तु, वैशाली

४६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

के प्रजातंत्र पर अत्याचार पूर्ण आक्रमण करने के कारण उसका खोखलापन प्रकट हो चुका था, जनता की आँखों में उसका व्यक्तित्व गिर चुका था।

० अपने गिरते व्यक्तित्व को पुनः जनता में प्रतिष्ठित करने के लिए उसने एक बार भगवान् से विचार-वर्षा की। भगवान् मुझे श्रेष्ठ, धर्मत्मा, स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी प्रमाणित कर दें। इस हेतु से उसने सहस्राधिक स्त्री - पुरुषों की सभा के बीच भगवान् से पूछा—

“भगवन्, मृत्यु तो आएगी ही..... !

“अवश्य आएगी !”

‘हां तो, मृत्यु के अनन्तर भगवन् ! मैं कहाँ जन्म लूँगा ?’

“नरक में।”

“भगवन्, नरक ?”

“हां, नरक।”

“आपका भक्त और नरक !”

“क्या कहा, मेरा भक्त ?”

“हां, आपका भक्त।”

“झूठ बोलते हो नरेश ! मेरा भक्त होकर क्या निरीह प्रजा का शोषण कर सकता है, वासनाओं का गुलाम बन सकता है, हार और हाथी जैसे नगण्य

पदार्थों के लिए रण-भूमि में लाखों मनुष्यों का संहार कर सकता है ? कभी नहीं । मेरी भक्ति की ओर नहीं, अपने दुष्कर्मों की ओर देखो । मानव का अपना स्वयं का सदाचार ही मनुष्य को नरक से बचा सकता है, और कोई नहीं ! भक्ति में और भक्ति के ढोंग में अन्तर है राजन् !”

० इस पर अजातशत्रु भगवान् का विरोधी बन गया । विरोधी बने तो बने, भगवान् को इससे क्या ? वह भक्तों की दिलजोई करने को कभी अत्याचार का-पतित जीवन का समर्थन नहीं कर सकते ।

० अपने श्रमण-शिष्यों पर भी भगवान् का बहुत कड़ा अनुशासन था । गलती करने वाला शिष्य, चाहे कितना ही बड़ा हो, संघ का अधिकारी हो, वह उसे अनुशासित करने से न चूकते थे । इन्द्रभूति गौतम भगवान् के एक प्रमुख गणधर थे, एक प्रकार से वे ही श्रमणसंघ के अधिनायक एवं सर्वेसर्वा कर्ता-धर्ता थे । एक बार की बात है कि गौतम आनन्दश्रावक के साथ वार्तालाप करते समय भ्रान्तिमूलक सिद्धान्त की स्थापना कर आए, इसके लिए भगवान् ने आपको तत्काल ही आनन्द से क्षमा-याचना करने भेजा ।

० चौदह हजार श्रमणों के संघ का अधिपति एक

गृहस्थ से क्षमायाचना करने के लिए उसके द्वार पर जाए, यह न्याय का, निष्पक्षता का, कितना महान् आदर्श है ! भगवान् महावीर जैसे सत्य के प्रखर पक्षधर महापुरुष के नेतृत्व में ही इस प्रकार की ज्वलन्त ऐतिहासिक घटनाओं का निर्माण हुआ करता है।

विशाल दृष्टि

० भगवान् महावीर का तात्त्विक दृष्टिकोण बहुत विशाल था। वे संकुचित साम्प्रदायिक दलबंदियों को अच्छा नहीं समझते थे। उस समय में जो भयंकर धार्मिक तथा सामाजिक कलह हुआ करते थे, साधारण-सी बातों पर मनुष्यों के रक्त बह जाया करते थे, भगवान् ने उन सबका समन्वय करने के लिए परस्पर सद्भाव स्थापित करने के लिए स्याद्वाद का आविष्कार किया। स्याद्वाद का आशय है-प्रत्येक धर्म एवं विचारपक्ष में कुछ-न-कुछ सचाई का अंश रहा हुआ है। अस्तु, हमें विरोध में न पड़ कर, प्रत्येक व्यक्ति, पक्ष तथा धर्म की सचाई के अंश को आदर देना चाहिए और परस्पर प्रेम एवं सद्भाव का वातावरण पैदा करना चाहिए।

० भगवान् ने धर्म की परिभाषा बतलाते हुए भी यही उच्च भाव व्यक्त किए थे। आपने कहा था-

“संसार में कल्याण करने वाला उत्कृष्ट मंगल एक-मात्र धर्म ही है। और, वह धर्म और कोई नहीं—अहिंसा, संयम एवं तप ही यथार्थ धर्म है।”

० पाठक देख सकते हैं—भगवान् ने यह नहीं बतलाया कि जैन-धर्म ही उत्कृष्ट धर्म है, या मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वही उत्कृष्ट मंगल है। भगवान् जानते थे कि-कोई भी सत्य-क्षेत्र, काल, व्यक्ति, पंथ या परम्परा आदि के बन्धन में कभी नहीं रह सकता। सच्चा धर्म—अहिंसा है, जिसमें जीव-दया, विशुद्ध प्रेम और ध्रातृ - भाव का समावेश होता है। सच्चा धर्म—संयम है, जिसमें मन और इन्द्रियों को सम्यक् नियंत्रित कर स्वात्म-रमणता का आनन्द लिया जाता है। सच्चा धर्म—तप है, जिसमें सेवा, तितिक्षा, आत्म-चिन्तन, आत्म-शुद्धि और अध्ययन आदि का समावेश होता है। जब यह तीनों अंग मिल जाते हैं, तो धर्म की साधना पूर्ण अवस्था पर पहुँच जाती है। फलतः साधक सदा के लिए पाप - कालिमा से पूर्णतः मुक्त हो जाता है, आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

जन्म - जागरण

० अधिक क्या भगवान् महावीर का तीर्थंकरकाल से सम्बन्धित ३० वर्ष का जीवन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं

५० : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

विश्व-कल्याणकारी रहा है। जीवन का एक क्षण भी इधर - उधर न गाँवा कर विश्व - कल्याण के लिए वे सतत् प्रयत्नशील रहे।

० क्या मगध, क्या बंग, क्या सिन्ध, दूर-दूर तक के प्रदेशों में घूम - घूम कर जनता को सत्य का सन्देश सुनाया, उसे सत्पथ पर लगाया। तत्कालीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि भगवान् जिधर भी जाते थे, मानव समाज का काया पलट होता चला जाता था। भारत का अधिकांश मानव-समाज भोग-विलास के गर्तों से निकल कर त्याग, वैराग्य की ऊँची-से-ऊँची भूमिकाओं पर आरूढ़ हो गया था।

० मेघकुमार, नन्दिषेण जैसे अमित वैभव की गोद में पलने वाले राजकुमारों की टोलियाँ, भिक्षु का वाना पहने, नंगे सिर और नंगे पैरों, हजारों विघ्न-बाधाओं को सहती हुई, जब नगर-नगर में, गाँव-गाँव में, घर-घर में घूमती होंगी, महावीर का पावन सन्देश जनता को सुनाती होंगी, तब कितना भव्य एवं मोहक रहा होगा—उस समय का वह दृश्य !

० रंग - महलों में जीवन बितानेवाली नन्दा, कृष्णा-जैसी हजारों असूर्यम्पश्या महारानियाँ जब भिक्षुणी बनती होंगी, और जब वे त्याग - वैराग्य की जीती-

जागती मूर्तियाँ भगवान् महावीर के सन्देश का मंगल-गान घर - घर सुनाती फिरती होंगी, तब यह पामर दुनिया क्या-से-क्या हो जाती होगी ? पत्थर-से-पत्थर हृदय भी पिघल कर मोम बन जाते होंगे, भगवान् के विश्वोपकारी घर्म-सन्देश के आगे वे श्रद्धा से मस्तक झुका देते होंगे ।

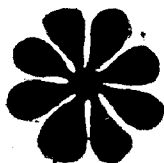
० भगवान् के संघ में १४००० भिक्षु थे, ३६००० भिक्षुणियाँ थीं, १,५६००० श्रावक थे, और ३,१८००० श्राविकाएँ थीं । प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ वा० मो० शाह के भावों में — “जबकि रेल, तार, पोस्ट इत्यादि कुछ भी प्रचार के साधन न थे, तब तीस वर्ष के छोटे-से प्रचारकाल में पादविहार के द्वारा जिस महापुरुष ने इतना विशाल प्रचार-कार्य आगे बढ़ाया, उसके उत्साह, धैर्य, सहन-शीलता, ज्ञान, वीर्य व तेज कितनी उच्चकोटि के होंगे? इसका अनुमान सहज ही में किया जा सकता है । तत्कालीन इतिहास की सामग्री को उठा कर देखते हैं, तो चहुँ ओर त्याग - वैराग्य एवं आत्म - चिन्तन का समुद्र उमड़ता हुआ मिलता है ।”

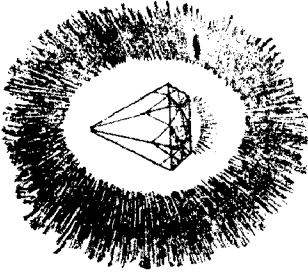
निर्वाण

० पावानरेश हस्तिपाल के आग्रह पर भगवान् ने अन्तिम वर्षावास—चातुर्मास पावा में किया हुआ था । धर्म-प्रचार करते हुए कार्तिक की अमावस्या आ चुकी

थी, स्वातिनक्षत्र का योग चल रहा था। भगवान् एक प्रकार से विदा लेते हुए सोलह पहर से निरन्तर, जनता को अपनी अन्तिम थाती प्रदान करने के रूप में, धर्म-प्रवचन कर रहे थे। नौ मल्लि और नौ लिच्छवि—इस प्रकार अठारह गण-नरेश सेवा में पौषध किये हुए थे, भगवान् स्वयं भी दो दिन के उपवासी थे, शुक्ल-ध्यान के द्वारा अवशिष्ट रहे वेदनीय, आयुष्य, नाम गोत्र— इन चार अघाति कर्मों के आवरणों को भी हटा कर सदा के लिए अजर-अमर हो गए—जैन परिभाषा में निर्वाण पा कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।

० वह ज्ञान - सूर्य हम से अलग होकर मुक्ति - लोक में चला गया है। आज हम उसके साक्षात् दर्शन नहीं कर सकते। परन्तु, उसकी धर्म - प्रवचन के रूप में प्रसारित ज्ञानकिरणें आज भी हमारे सामने प्रकाशमान हैं। हमारा कर्तव्य है कि—हम उन ज्ञानकिरणों के उज्ज्वल प्रकाश में सत्य का अनुसन्धान करें और जीवन सफल बनाएँ !





महावीर

के

सि

द्धा

न्त

शोषण - मुक्ति : अपरिग्रह

दुःखों का मूल

० भगवान् महावीर ने परिग्रह, संग्रहवृत्ति एवं तृष्णा को संसार के समग्र दुःख एवं क्लेशों का मूल कहा है। संसार के समस्त जीव तृष्णा-वश हो कर अशान्त और दुःखी हो रहे हैं। तृष्णा, जिसका कहीं अन्त नहीं, कहीं विराम नहीं—जो अनन्त आकाश के समान अनन्त है, उसकी संपूर्ति सीमित धन-धान्य आदि से कैसे हो सकती है? जिससे मानव मन को भी शान्ति मिले। फिर भी संसारी आत्मा धन, जन एवं भौतिक पदार्थों में सुख की, शान्ति की गवेषणा करते हैं। परन्तु उनका यह प्रयत्न व्यर्थ है। क्योंकि तृष्णा का अन्त किए बिना कभी सुख एवं शान्ति मिलेगी ही नहीं। लाभ से लोभ की अभिवृद्धि होती है। तृष्णा से व्याकुलता की बेल फैलती है, इच्छा-से-इच्छा बढ़ती है। परिग्रह, संग्रह, संचय, तृष्णा, इच्छा तथा लालसा एवं आसक्तिभाव और मूर्च्छाभाव—ये सभी शब्द एकार्थक हैं। जैसे अग्नि में घृत डालने से वह कम न होकर अधिकाधिक बढ़ती है, वैसे ही संग्रह एवं परिग्रह से तृष्णा की आग शान्त न हो कर और अधिक प्रदीप्त होती जाती है।

परिग्रह के मूल केन्द्र

० 'कनक और कान्ता' परिग्रह के मूल केन्द्र-बिन्दु हैं। मेरा धन, मेरा परिवार, मेरी सत्ता, मेरी शक्ति—यह भाषा, यह वाणी परिग्रह-वृत्ति में से जन्म पाती है। बन्धन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—“परिग्रह और आरम्भ।” आरम्भ का, हिंसा का जन्म भी परिग्रह से ही माना गया है। मनुष्य धन का उपार्जन एवं संरक्षण इसलिए करता है कि इससे उसकी रक्षा हो सकेगी। पर यह विचार ही मिथ्या है, भ्रान्त है। भगवान् ने तो स्पष्ट कहा है—“वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।” धन कभी किसी प्रमादी की रक्षा नहीं कर सका है। सम्पत्ति और सत्ता का व्यामोह मनुष्य को भ्रान्त कर देता है। सम्पत्ति आसक्ति को और सत्ता अहंकार को जन्म दे कर, सुख की अपेक्षा दुःख की ही सृष्टि करती है।

सुख का राजमार्ग

० इच्छा और तृष्णा पर विजय पाने के लिए भगवान् ने कहा—“इच्छाओं का परित्याग कर दो। यही सुख का राजमार्ग है। यदि इच्छाओं की सम्पूर्ण त्याग करने की क्षमता तुम अपने अन्दर नहीं पाते हो, तो इच्छाओं का परिमाण करो। यह भी सुख का एक अर्ध-विकसित मार्ग है।” संसार में भोग्य पदार्थ

५६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

अनन्त हैं। किस-किसकी इच्छा करोगे, किस-किसको भोगोगे। पुद्गलों का भोग अनन्त-काल से होता आ रहा है, क्या कभी शान्ति मिली, सुख मिला? सुख तृष्णा के क्षय में है, सुख इच्छा के निरोध में है। सुखी होने के उक्त मार्ग को भगवान् ने अपनी वाणी में अपरिग्रह - महाव्रत तथा इच्छापरिमाण - अणुव्रत, इस प्रकार दो विकल्पों में प्रस्तुत किया। यह साधक की अपनी शक्ति पर निर्भर है, कि वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करता है। आखरी सिद्धान्त तो यह है, कि परिग्रह का परित्याग करो। धीरे - धीरे करो या एक साथ करो, पर करो अवश्य।

परिग्रह : मूर्च्छाभाव

० परिग्रह क्या है? इसके विषय में भगवान् ने अपने प्रवचनों में इस प्रकार कहा है—

“वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं है। यदि उसके प्रति मूर्च्छाभाव आता है, तो वह परिग्रह हो जाता है।

“जो व्यक्ति स्वयं अनावश्यक मर्यादाहीन संग्रह करता है, दूसरों से संग्रह कराता है, संग्रह करने वालों का अनुमोदन करता है—वह भव-बन्धनों से कभी मुक्त नहीं हो सकता।”

“संसार के जीवों के लिए परिग्रह से बढ़कर अन्य कोई पाश (बन्धन) नहीं है।”

“धर्म के मर्म को समझने वाले ज्ञानी-जन अन्य भौतिक साधनों पर तो क्या, अपने तन पर भी मूर्च्छा-भाव नहीं रखते।”

“धन संग्रह से दुःख की वृद्धि होती है, धन ममता का पाश है, और वह भय को उत्पन्न करता है।”

“इच्छा आकाश के समान अनन्त है, उसका कभी भी अन्त नहीं आता।”

संसार का कारण : तृष्णा

० परिग्रह क्लेश का मूल है, और अपरिग्रह सुखों का मूल। तृष्णा संसार का कारण है, सन्तोष मोक्ष का। इच्छा से व्याकुलता उत्पन्न होती है, और इच्छा-निरोध से अध्यात्म सुख। अतः परिग्रह पाप है और अपरिग्रह धर्म है।

० भगवान् महावीर ने कहा—सुख वस्तु निष्ठ नहीं, विचार - निष्ठ है। सुख बाह्य वस्तु में नहीं, मनुष्य की भावना में है। तन आत्मा के अधीन है, या आत्मा तन के? भौतिकवादी कहता है—शरीर ही सब-कुछ है। अध्यात्मवादी कहेगा—यह ठीक नहीं है। यह शरीर ही आत्मा के अधीन है। जो कुछ भी करना है या न करना है, वह सब आत्मा के नियंत्रण में होना चाहिए। जब तक जीवन है, तब तक बाह्य

५८ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

वस्तुओं का सर्वथा त्याग शक्य नहीं, परन्तु अपनी अनर्गल तृष्णा पर नियन्त्रण अवश्य होना चाहिए। बिना इसके अपरिग्रह का पालन नहीं हो सकेगा। अपरिग्रह धर्म की सबसे पहली मांग है—इच्छा-निरोध की। इच्छा - निरोध यदि नहीं हुआ, तो तृष्णा का अन्त नहीं होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि मानव आवश्यक वस्तुओं का, खाने-पीने-पहनने आदि की वस्तुओं का सेवन ही न करे! करे, किन्तु जीवन-रक्षा के लिए, भोग-विलास की भावना से नहीं और वह भी जल-कमल के समान निर्लिप्त हो कर।

अपरिग्रह : संस्कृति

० अपरिग्रह का सिद्धान्त समाज में शान्ति उत्पन्न करता है, राष्ट्र में समताभाव का प्रसार करता है, व्यक्ति एवं परिवार में आत्मीयता का आरोपण करता है। परिग्रह से अपरिग्रह की ओर बढ़ना—यह धर्म है, संस्कृति है। अपरिग्रहवाद में सुख है, मंगल है, शान्ति है। अपरिग्रहवाद में स्वहित भी है, परहित भी है। अपरिग्रहवाद अधिकार पर नहीं, कर्तव्य पर बल देता है। शान्ति एवं सुख के साधनों में अपरिग्रहवाद एक मुख्यतम साधन है। क्योंकि वह मूलतः अध्यात्मवाद-मूलक हो कर भी समाज-मूलक है।



आत्मा का अमर संगीत : अहिंसा

० जैन - संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व - शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं—एक दिन जैन-संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा-काण्ड में लगे उन्मत्त संसार के सामने रखा गया था।

० जैन - संस्कृति का महान् संदेश है— कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रह कर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आस-पास के अन्य संगी - साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, व्यापक बनाए, विराट् बनाए और जिन लोगों के साथ रहना है, काम करना है, उनके हृदय में अपनी

ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक बार ही नहीं, हजार बार कहा जा सकता है कि नहीं हो सकता। एक - दूसरे का आपस में अविश्वास ही तो आज तबाही का कारण बना हुआ है।

० संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली - सा ही है। यदि अधिक गहराई से अन्तर्निरीक्षण किया जाए तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों के जाल को हटा ले, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

अमर आदर्श

० जैन-संस्कृति के महान् संस्कर्ता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है।

उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है—दूसरों के सुख-साधनों को देख कर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

० हाँ, तो जब तक नदी अपने दो पाटों के बीच में बहती रहती है, तब तक उससे संसार को लाभ-ही-लाभ है, हानि कुछ भी नहीं। ज्योंही वह अपनी सीमा से हट कर आस - पास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण कर लेती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सब - के - सब मनुष्य अपने - अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं, तब तक कुछ अशान्ति नहीं है, लड़ाई - झगड़ा नहीं है। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

० प्राचीन जैन-साहित्य उठा कर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य

६२ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें परिग्रह परिमाणव्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से आगे कभी नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है— अपने दूसरे साथियों के साथ मर्यादाहीन घातक संघर्ष में उतरना।

० जैन - संस्कृति का अमर आदर्श है—प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही, उचित साधनों का सहारा लेकर, उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह करके रखना, जैन - संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र परस्पर क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की, जीवन के सुख - साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अहिंसा के बगैरे अपरिग्रह वृत्ति में ही ठूँडे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें, तो अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति, दोनों परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं।

युद्ध और अहिंसा :

० आत्म - रक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन

जुटाना, जैन - धर्म की दृष्टि से विरुद्ध नहीं है । परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहार - लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी । अतः आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों से जो निःशस्त्रीकरण आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध - सामग्री रखने को कहा जा रहा है, वह जैन - तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था । आज जो काम कानून द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, तब वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था । भगवान् महावीर ने बड़े - बड़े राजाओं को जैन - धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया था कि वे राष्ट्र - रक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक शस्त्रों का संग्रह न करें । साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है । प्रभुता की लालसा में आ कर एक दिन वह कहीं-न-कहीं किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव-संसार में युद्ध की आग भड़का देगा । इसी दृष्टि से तीर्थंकर हिंसा के मूलकारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे ।

० जैन - तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया । जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बन कर युद्ध के समर्थन में

आए हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बता कर उसके लिए सब - कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन - तीर्थंकर इसके विरोध में काफी सुदृढ़ रहे हैं। 'प्रश्नव्याकरण' और 'भगवती-सूत्र' युद्ध के विरोध में कितने अधिक मुखर हैं? यदि थोड़ा - सा भी अवकाश प्राप्त कर देखने का प्रयत्न करेंगे, तो विपुलमात्रा में युद्ध - विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कूणिक भगवान् महावीर का कितना अधिक उत्कृष्ट भक्त था। 'औपपातिक सूत्र' में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा हुआ मिलता है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल-समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है। परन्तु, वैशाली पर कूणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया, प्रत्युत नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप - कर्मों का नग्नरूप जनता के सामने रख दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे ?

जीओ और जीने दो

० जैन-तीर्थंकरों की तथाकथित अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता का रूप भी नहीं था। वे अहिंसा का अर्थ—प्रेम, परोपकार, करुणा, दया, सेवा, सहानुभूति, मैत्री, सहयोग, सह-अस्तित्व - भावना, विश्व - बन्धुत्व आदि करते थे। जैन - तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित न था—“स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो।” उनका आदर्श था—“दूसरों के जीने में मदद भी करो, और अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो यानी दूसरों को जिला कर जीओ।” वे उस जीवन को कोई महत्त्व न देते थे, जो जन - सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एकमात्र भक्तिवाद के अर्थ - शून्य क्रिया - काण्डों में ही उलझा रहता हो।

० भगवान् महावीर ने तो एक बार यहाँ तक कहा था—“मेरी-सेवा करने की अपेक्षा दीन - दुखियों की सेवा करना, कहीं अधिक श्रेयस्कर है। वे मेरे भक्त नहीं, जो सिर्फ मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं।” मेरी आज्ञा है—“प्राणिमात्र को यथोचित सुख, सुविधा और शान्ति पहुँचाना।” भगवान् महावीर का यह

६६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने हैं। यदि हम थोड़ा - सा भी सत्प्रयत्न करना चाहें, उक्त सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हम में से कोई देखना चाहें, तो उत्तराध्ययन सूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि वृत्ति' तथा आचार्य हरिभद्र की 'आवश्यक वृत्ति' में देख सकते हैं।

अमृतमय सन्देश : अहिंसा

० अहिंसा के अग्रगण्य सन्देशवाहक भगवान् महावीर है। आज दिन तक उनके अमर संदेशों का गौरव-गान गाया जा रहा है। आपको मालूम है कि ढाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अतीव अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओं के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं, मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे। स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपों में सब ओर हिंसा का घातक साम्राज्य छाया हुआ था। भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया, जिससे भारत का कायापलट हो गया। मनुष्य राक्षसी-भावों से हट कर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ।

क्या मनुष्य, क्या पशु, सभी के प्रति उसके हृदय में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा । अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए । दुर्भाग्य से आज वे महल फिर गिर रहे हैं । जल, थल, नभ कितनी बार खून से रंगे जा चुके हैं और भविष्य में इनसे भी कहीं अधिक भयंकर रूप से रंगने की तैयारियाँ हो रहीं हैं । एक के बाद दूसरे युद्ध के स्वप्न देखने का क्रम बंद नहीं हुआ है । परमाणु बम-आणविक शस्त्रास्त्रों के आविष्कार की सब देशों में होड़ लग रही है । सब ओर अविश्वास और दुर्भाव चक्कर काट रहे हैं । अस्तु, आवश्यकता है— आज फिर जैन तीर्थंकरों के, भगवान् महावीर के—‘अहिंसा परमोधर्मः’ की । मानव - जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एकमात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है, इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प नहीं है—

“ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् । ”



जैन - दर्शन का मूल स्वर :

अनेकान्त

० अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधार-शिला है। जैन-तत्त्व-ज्ञान की सारी इमारत, इसी 'अनेकान्त-सिद्धान्त' की नींव पर खड़ी है। वास्तव में अनेकान्त-वाद को जैन - दर्शन का मूल प्राण-तत्त्व ही समझना चाहिए। जैन-धर्म में जब भी, जो भी बात कही गई है, वह अनेकान्त की कसौटी पर अच्छी तरह जाँच-परख कर ही कही गई है। यही कारण है कि दार्शनिक साहित्य में जैन-दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्त-दर्शन भी है।

० अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु एवं स्थिति को भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से देखना, परखना, समझना। अनेकान्तवाद का यदि एक ही शब्द में अर्थ समझना चाहें, तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते हैं। जैन-धर्म में सर्वथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एवं अप्रामाणिक समझा जाता है। और एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न धर्मों के कथन करने की पद्धति को पूर्ण एवं प्रामाणिक माना गया है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद

है। अनेकान्तवाद के ही-अपेक्षावाद, कथंचित्वाद, स्याद्वाद और नयवाद आदि नामान्तर हैं।

० जैन-धर्म की मान्यता है कि-प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह छोटा - से - छोटा रजकण हो, चाहे बड़ा-से-बड़ा हिमालय या सुमेरु हो, अनन्त धर्मों का समूह है। धर्म का अर्थ-गुण है, विशेषता है। उदाहरण के लिए, आप फल को ले लीजिए। फल में रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है, भूख बुझाने की क्षमता है, अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति है और साथ ही अनेक रोगों को पैदा करने की भी शक्ति है। कहाँ तक गिनाएँ ? हमारी बुद्धि बहुत सीमित है। अतः हम वस्तु के समस्त अनन्त धर्मों को बिना पूर्ण अनन्त केवलज्ञान के हुए नहीं जान सकते। परन्तु स्पष्टतः प्रतीयमान बहुत से धर्मों को तो जान ही सकते हैं।

'ही' और 'भी'

० हाँ, तो किसी भी पदार्थ एवं स्थिति को केवल एक पहलू से, केवल एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ एवं स्थिति को पृथक् - पृथक् पहलुओं से देखिए और कहिए। इसी का नाम अनेकान्तवाद है, स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद अनन्त धर्मात्मक वस्तु के सम्बन्ध में विचार

करने की एक पद्धति है, स्याद्वाद उसी अनेकान्त के हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है, हमारी विचार-धारा को पूर्णता की ओर ले जाता है ।

० फल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि-फल में रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है, स्पर्श भी है, आदि-आदि, तब तो हम अनेकान्तवाद का उपयोग करते हैं और फल के सत्य का ठीक - ठीक निरूपण करते हैं । इसके विपरीत जब हम एकान्त आग्रह में आ कर यह कहते हैं कि-फल में केवल रूप ही है, रस ही है, गन्ध ही है, स्पर्श ही है आदि-आदि, तब हम मिथ्या सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं । 'भी' में दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है, जबकि 'ही' में दूसरे धर्मों का स्पष्टतः निषेध है । रूप भी है-इसका यह अर्थ है कि फल में रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी हैं । और रूप ही है-इसका यह अर्थ है कि फल में रूप ही है और दूसरे रस आदि कुछ नहीं हैं । यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही अनेकान्तवाद और एकान्तवाद है । 'भी' अनेकान्तवाद है, तो 'ही' एकान्तवाद ।

० एक आदमी बाजार में खड़ा है । एक ओर से एक लड़का आया । उसने कहा—'पिताजी' । दूसरी ओर से एक बूढ़ा आया । उसने कहा—'पुत्र' । तीसरी ओर

एक अधेड़ व्यक्ति आया। उसने कहा 'भाई'। चौथी ओर से एक छात्र आया। उसने कहा— 'मास्टरजी।' मतलब यह है कि— उसी आदमी को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा, कोई भानजा आदि - आदि। सब झगड़ते हैं— यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, मास्टर ही है, चाचा ही है आदि - आदि। अब बताइए, कैसे निर्णय हो? उनका यह संघर्ष कैसे मिटे? वास्तव में यह आदमी है क्या? यहाँ पर स्याद्वाद को जज बनाना पड़ेगा। स्याद्वाद पहले लड़के से कहता है कि— हाँ, यह पिता भी है। तुम्हारे ही लिए तो पिता है, चूँकि तुम इसके पुत्र हो, पर सब लोगों का तो पिता नहीं है। बूढ़े से कहता है— हाँ, यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सब लोगों की अपेक्षा से तो नहीं। क्या सारी दुनिया का पुत्र है। मतलब यह है कि यह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा से भाई है, अपने विद्यार्थी की अपेक्षा से गुरु है। इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा से चाचा, ताऊ, मामा, भानजा, पति, मित्र सब है। एक ही आदमी में अनेक धर्म हैं, परन्तु भिन्न - भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं, कि उसी पुत्र की अपेक्षा से पिता, उसी पुत्र की अपेक्षा

से पुत्र, उसी पुत्र की अपेक्षा से भाई, मास्टर, चाचा, ताऊ, मामा, भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

० अच्छा, अनेकान्त एवं स्याद्वाद को समझने के लिए तुम्हें कुछ और बताएँ। एक आदमी काफी ऊँचा है, इसलिए कहता है—कि 'मैं बड़ा हूँ।' हम पूछते हैं—'क्या आप पहाड़ से भी बड़े हैं?' वह झट कहता है 'नहीं साहब, पहाड़ से तो मैं छोटा हूँ। मैं तो इन साथ आदमियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं बड़ा हूँ।' अब एक दूसरा आदमी है। वह अपने साथियों से नाटा है, इसलिए कहता है कि— 'मैं छोटा हूँ।' हम पूछते हैं—'क्या आप चींटी से भी छोटे हैं?' वह झट उत्तर देता है—'नहीं साहब, चींटी से तो मैं बड़ा हूँ। मैं तो अपने इन कद्दावर साथियों की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं छोटा हूँ।' अब तुम्हारी समझ में अपेक्षावाद आ गया होगा कि हर एक चीज छोटी भी है, और बड़ी भी। अपने से बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है। यह मर्म अनेकान्तवाद के बिना कभी भी समझ में नहीं आ सकता।

० अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव में

जन्म के अंधे छह मित्र रहते थे। सौभाग्य से वहाँ एक हाथी आ निकला। गाँव वालों ने कभी हाथी देखा नहीं, धूम मच गई। अंधोंने भी हाथी का आना सुना, तो देखने दौड़े। अंधे तो थे ही, देखते क्या ? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने पूँछ पकड़ी, तो किसी ने सूँड, किसी ने कान पकड़ा, तो किसी ने दाँत, किसी ने पैर पकड़ा, तो किसी ने पेट। एक - एक अंग को पकड़ कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी देख लिया है।

० अपने स्थान पर आए तो हाथी के संबंध में चर्चा छिड़ी। पूँछ पकड़ने वाले अंधे ने कहा—“हाथी तो मोटे रस्सा जैसा था।” सूँड पकड़ने वाले ने कहा—“भ्रूठ, विल्कुल भ्रूठ ! हाथी कहीं रस्सा जैसा होता है। अरे हाथी तो मूसल जैसा था।” तीसरा कान पकड़ने वाला बोला—“आँखें काम नहीं देतीं, तो क्या हुआ ? हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। मैंने हाथी को टटोल कर देखा था, वह ठीक छाज जैसा था। चौथे दाँत पकड़ने वाले सूरदास बोले—“तुम सब क्यों गप्पें मारते हो ? हाथी तो कुशा-कुदाल जैसा था !” पाँचवे पैर पकड़ने वाले महाशय ने कहा—कुछ भगवान् का भी भय रखो। नाहक क्यों भ्रूठ बोलते हो ? हाथी तो खंभा जैसा है।” छठे पेट पकड़ने वाले सूरदास गरज उठे—अरे क्यों बकवास करते हो ? पहले पाप किए तो

अन्धे हुए, अब व्यर्थ का झूठ बोल कर क्यों उन पापों की जड़ों में पानी सींचते हो ! हाथी तो भाई, मैं भी देख कर आया हूँ । वह अनाज भरने की कोठी जैसा है ।” अब क्या था, आपस में वाक् - युद्ध ठन गया । सब एक-दूसरे की भर्त्सना करने लगे ।

० सौभाग्य से वहाँ एक आँखों वाला सत्पुरुष आ गया । उसे अन्धों की तू - तू, मैं - मैं सुन कर हँसी आ गई । पर, दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गंभीर हो गया, उसने कहा— “बन्धुओं क्यों भगड़ते हो ? जरा मेरी बात भी सुनो । तुम सब सच्चे भी हो और झूठे भी । तुम में से किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा है । एक - एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का दावा कर रहे हो । कोई किसी को झूठा मत कहो, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो । हाथी रस्सा जैसा भी है, पूँछ की दृष्टि से । हाथी मूसल जैसा भी है, सूँड की अपेक्षा से । हाथी छाज जैसा भी है, कान की ओर से । हाथी कुंआल जैसा भी है, दांतों के लिहाज से । हाथी खंभा जैसा भी है, पैरों की अपेक्षा से । हाथी अनाज की कोठी जैसा भी है, पेट के दृष्टिकोण से ।” इस प्रकार समझा - बुझा कर उस सज्जन ने विरोध की आग में समन्वय का पानी डाला ।

० संसार में जितने भी एकान्तवादी सम्प्रदाय हैं, वे

एकान्त आग्रह के कारण पदार्थ के एक - एक अंश अर्थात् धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालों से लड़ते - भगड़ते हैं। परन्तु वास्तव में वह पदार्थ नहीं, पदार्थ का एक अंश मात्र है। स्याद्वाद आँखों वाला दर्शन है। अतः वह इन एकान्तवादी अंधे दर्शनों को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है; सब दृष्टि से नहीं। अपने एक अंश को सर्वथा सब अपेक्षा से ठीक बतलाना और दूसरे अंशों को सर्वथा भ्रान्त कहना, विल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्तवादी दर्शनों की भूल बता कर पदार्थ के सत्य - स्वरूप को आगे रखता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक विवक्षा से ठीक बतलाने के कारण साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह को ही नहीं, यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया जाए, तो क्या परिवार, क्या समाज और क्या राष्ट्र; सभी में प्रेम एवं सद्भावना का राज्य कायम हो सकता है। कलह और संघर्ष का बीज एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने में ही है। और स्याद्वाद इसके समझने में मदद करता है।

० यहाँ तक स्याद्वाद को समझाने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही काम में लाए गए हैं। अब दार्शनिक उदाहरणों का मर्म भी समझ लेना चाहिए।

यह विषय जरा गम्भीर है, अतः हमें सूक्ष्म निरीक्षण-पद्धति से काम लेना चाहिए ।

नित्यत्व तथा अनित्यत्व :

० अच्छा, तो पहले नित्य और अनित्य के प्रश्न को ही ले लें । भगवान् महावीर कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है, और अनित्य भी है । साधारण लोग इस बात से घपले में पड़ जाते हैं कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है ? और जो अनित्य है, वह नित्य कैसे हो सकता है ? परन्तु, महावीर का दर्शन अपने अनेकान्तवादर्थी महान् सिद्धान्त के द्वारा सहज ही में इस समस्या को सुलभा लेता है ।

० कल्पना कीजिए—एक घड़ा बना है । हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घड़ा बना है, उसी से और भी सिकोरा, सुराही आदि कई प्रकार के पात्र बनते हैं । हाँ, तो यदि उस घड़े को तोड़ कर हम उसी घड़े की मिट्टी का बना हुआ कोई दूसरा पात्र किसी को दिखाएँ तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा । उसी मिट्टी और द्रव्य के होते हुए भी उसको घड़ा न कहने का कारण क्या है ? कारण और कुछ नहीं, यही है कि अब उसका आकार घड़े जैसा नहीं है ।

० इस पर से यह सिद्ध हो जाता है कि घड़ा स्वयं कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, बल्कि मिट्टी का एक

आकार-विशेष है। परन्तु यह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है, उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न - भिन्न आकारों - पर्यायों में परिवर्तित होती हुई मिट्टी ही जब घड़ा, सिकोरा, सुराही आदि भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित होती हैं, तो उस स्थिति में परिवर्तित होता हुआ आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकता है? इससे साफ जाहिर है कि घड़े का आकार और मिट्टी, दोनों ही घड़े के अपने स्वरूप हैं। अब देखना है कि इन दोनों स्वरूपों में विनाशी स्वरूप कौन-सा है और अविनाशी ध्रुव रूप कौन-सा है? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का आकार सम्बन्धी स्वरूप विनाशी है, क्योंकि वह बनता और बिगड़ता है। पहले नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा। जैन-दर्शन में इसे पर्याय कहते हैं। और घड़े का जो दूसरा स्वरूप मिट्टी है, वह अविनाशी है, क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहले भी वह मौजूद थी, घड़े के बनने पर भी वह मौजूद है, और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में स्थायी तत्त्व है, उसे बनना और बिगड़ना नहीं है। जैन - दर्शन में इसे द्रव्य कहते हैं। मिट्टी में द्रव्यत्व औपचारिक है। मूल में द्रव्य तो पुद्गल परमाणु है। परमाणु ही वस्तुतः मूल में पुद्गल द्रव्य है, जो पृथ्वी, जल आदि विभिन्न

रूपाकारों में परिवर्तित होता रहता है। प्रस्तुत में मिट्टी को जो द्रव्य कहा है, वह सर्वसाधारण जिज्ञासुओं के परिबोध के लिए कहा गया है।

० इतने विवेचन पर से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है। दूसरा सदा - सर्वदा बना रहता है, नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यों कह सकते हैं कि घड़ा अपने आकार को दृष्टि से—विनाशीरूप से अनित्य है और अपने मूल मिट्टी या परमाणु के रूप से—अविनाशीरूप से नित्य है। जैन-दर्शन की भाषा में कहें तो यों कह सकते हैं कि—घड़ा अपने पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी जैसे दीखने वाले नित्यता और अनित्यता के धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश

० अच्छा, इसी विषय पर जरा और विचार कीजिए। जगत् के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त हैं। जैन - दर्शन में इनके लिए क्रमशः उत्पाद, ध्रौढ्य और व्यय शब्दों का प्रयोग

किया गया है। आप कहेंगे—एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का सम्भव कैसे हो सकता है ? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—एक सुनार के पास सोने का कंगन है। वह उसे तोड़ कर, गला कर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कंगन का नाश हो कर हार की उत्पत्ति हो गई। परन्तु इससे आप यह नहीं कह सकते कि एक वस्तु बिल्कुल ही नष्ट हो गयी, और दूसरी बिल्कुल ही नयी पैदा हो गयी। क्योंकि कंगन और हार में, जो सोने के रूप में मूल तत्त्व है, वह तो ज्यों-का-त्यों अपनी उसी स्थिति में विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है, और नये आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण से सोने में कंगन के आकार का नाश, हार के आकार की उत्पत्ति, सोने की स्थिति—ये तीनों धर्म भली-भाँति सिद्ध हो जाते हैं।

० इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—ये तीनों गुण स्वभावतया रहते हैं। कोई भी वस्तु जब बाहर में नष्ट होती मालूम होती है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्त्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप के होते हैं। सूक्ष्म दृश्य रूप के नष्ट हो जाने पर भी उसके सूक्ष्म परमाणु तो सदा स्थित ही

रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु दूसरी वस्तु के साथ मिल कर नवीन रूपों का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने में सूर्य की किरणों से जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है, तब यह समझना भूल है कि पानी का सर्वथा अभाव हो गया है, उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस या अन्य किसी भी परमाणु आदि के रूप में क्यों न हो, पर वह विद्यमान अवश्य है। यह हो सकता है कि उसका वह सूक्ष्म रूप हमें दिखाई न दे, परन्तु यह तो कदापि सम्भव नहीं कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाए, उसका सर्वथा अभाव ही हो जाए। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि—न तो कोई वस्तु मूलरूप से अपना अस्तित्व खो कर नष्ट ही होती है, और न अभाव से भाव हो कर सर्वथा नवीनरूप में उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ - विज्ञान, अर्थात् साइंस भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है—“प्रत्येक वस्तु मूल प्रकृति के रूप में ध्रुव-स्थिर है और उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ उसके भिन्न-भिन्न रूपान्तर मात्र हैं।”

० हाँ, तो उपर्युक्त उत्पत्ति, स्थिति और विनाश— इन तीन गुणों में से जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है, उसे जैन - दर्शन में द्रव्य कहते हैं, और जो उत्पन्न एवं विनष्ट होता रहता है, उसे पर्याय कहते हैं।

कंगन से हार बनने वाले उदाहरण में— सोना द्रव्य है, भले ही वह प्रस्तुत में औपचारिक द्रव्य है और कंगन तथा हार पर्याय हैं। द्रव्य की अपेक्षा से हर एक वस्तु नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त नित्य और न एकान्त अनित्य, प्रत्युत नित्यानित्य उभय रूप से मानना ही अनेकान्तवाद है।

सत् और असत्

० यही सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध में है। कितने ही धर्म - सम्प्रदाय कहते हैं— 'वस्तु सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं— 'वस्तु सर्वथा असत् है—' दोनों ओर से संघर्ष होता है, वाग्युद्ध होता है। अनेकान्तवाद ही इस संघर्ष का समाधान कर सकता है। अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ है भी, और नहीं भी। अपने स्वरूप से है और पर-स्वरूप से नहीं है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता पिता-रूप से सत् है, और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पिता-रूप से असत् है। यदि वह पर - पुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है, तो सारे संसार का पिता हो जाएगा, और यह असंभव है। आपके सामने एक कुम्हार है। उसे कोई सुनार कहता है। अब यदि वह यह

कहे कि मैं तो कुम्हार हूँ, सुनार नहीं हूँ, तो क्या अनुचित कहता है। कुम्हार की दृष्टि से यद्यपि वह सत् है, तथापि सुनार की दृष्टि से वह असत् है। कल्पना कीजिए—सौ घड़े रखे हैं। घड़े की दृष्टि से तो सब घड़े हैं, इसलिए सत् हैं। परन्तु प्रत्येक घड़ा अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है, पर - गुण, पर - धर्म और पर - रूप से असत् है। घड़ों में भी आपस में भिन्नता है। एक मनुष्य अकस्मात् किसी दूसरे के घड़े को उठा लेता है, और फिर पहचानने पर यह कहकर कि यह मेरा नहीं है, वापिस रख देता है। इस दशा में घड़े में असत् नहीं तो क्या है ? 'मेरा नहीं है'—इसमें मेरा के आगे जो नहीं, शब्द है, वही असत् का, अर्थात् नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपनी सीमा में है, सीमा से बाहर नहीं। अपना स्वरूप अपनी सीमा है, और दूसरों का स्वरूप अपनी सीमा से बाहर पर-रूप है। यदि हर एक वस्तु, हर एक वस्तु के रूप में सत् हो जाए, तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध, दूध के रूप में भी सत् हो, दही के रूप में भी सत् हो, तब तो दूध के बदले में दही, छाछ या पानी हर कोई ले या दे सकेगा। याद रखो—दूध दूध के रूप में सत् है दही आदि के रूप में नहीं। क्योंकि स्व-रूप सत् है, और पर - रूप असत्।

दार्शनिक जगत् का सम्राट् : स्याद्वाद

० स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। महात्मा गाँधी जैसे संसार के महान् पुरुषों ने भी इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। पाश्चात्य विद्वान् डा० थामस आदि का भी कहना है कि—“स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न - भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।” वस्तुतः अनेकान्त-स्याद्वाद सत्य - ज्ञान की कुँजी है। आज संसार में जो सब ओर धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रिय आदि वैर-विरोध का बोलबाला है, वह अनेकान्त एवं स्याद्वाद के द्वारा ही दूर हो सकता है? दार्शनिक क्षेत्र में अनेकान्त दर्शन - सम्राट् है, उसके सामने आते ही कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि दोष भाग खड़े होते हैं। जब कभी विश्व में शान्ति का सुराज्य स्थापित होगा, तो वह अनेकान्त एवं अनेकान्त से प्रतिफलित स्याद्वाद के द्वारा ही होगा—यह बात अटल है, अचल है।

अनेकान्त ही विरोध में अनुरोध, असहयोग में सहयोग, वैषम्य में साम्य स्थापित कर सकता है। चक्रवर्तीसम्राट् ही परस्पर विरोधी विभिन्न छोटे - मोटे राजाओं को एक छत्र के नीचे ला सकता है, और

उनमें परस्पर प्रीतिमूलक सहभावना का एक मंच तैयार कर सकता है। इस सम्बन्ध में जैनाचार्य कहते हैं—

“सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते-
सम्भूय साधु समयं भगवन् ! भजन्ते ।
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम—
पादाम्बुजं प्रधानयुक्तिपराजिता द्राक् ॥”

“जैसे छोटे - छोटे राजा लोग परस्पर में चाहें कितने ही कलह एवं संघर्ष - रत हों, परन्तु चक्रवर्ती-सम्राट् के एकछत्र शासन में वे आपस का वैर-विरोध भूल कर एकजुट हो जाते हैं, एक - दूसरे की मर्यादा का ध्यान रखते हैं, परस्पर सहयोगी होते हैं, उसी प्रकार विश्व के सभी एकान्तवादी मत - मतान्तर, चाहे परस्पर में कितने ही विरोधी दृष्टिगत होते हों, एक - दूसरे का खण्डन करते हों, परन्तु स्याद्वादरूपी चक्रवर्ती के शासन में तो वे सब एक - दूसरे का सम्मान करते हुए शान्ति - पूर्वक अविरोधी, अविरोधी ही नहीं, सहयोगी रहकर सत्य की साधना में उत्पर हो जाते हैं ।



भ० महावीर की अमर दैत : समन्वय

भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का जितना विकास हुआ है, उतना अम्यत्र नहीं हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्मभूमि है। यहाँ भिन्न - भिन्न दर्शनों के भिन्न - भिन्न विचार बिना किसी प्रतिबन्ध और नियंत्रण के फलते - फलते रहे हैं। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाए, तो एक बहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जाएंगी। अतः यहाँ विस्तार में न जा कर संक्षेप में ही भारत के बहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारों का परिचय दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय में भी इन दर्शनों का अस्तित्व था। और आज भी बहुत से लोग इन दर्शनों का विचार रखते हैं।

१. कालवाद, २. स्वभाववाद, ३. कर्मवाद, ४. पुरुषार्थवाद ५. और नियतिवाद। उक्त पाँच दर्शनों में ही प्रायः समग्र दर्शनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इन पाँचों दर्शनों का आपस में भयंकर संघर्ष है और प्रत्येक परस्पर में एक - दूसरे का खण्डन कर केवल अपने ही द्वारा कार्य सिद्ध होने का दावा करता है।

कालवाद :

यह दर्शन बहुत पुराना है। कालवाद काल को ही सबसे बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना

है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, सब काल के प्रभाव से ही हो रहे हैं। काल के बिना स्वभाव, पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है, परन्तु उसी समय उसे उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही अच्छा-बुरा फल प्राप्त होता है। एक बालक आज जन्म लेता है। आप उसे कितना ही चलाइये, वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा और बोलेगा। जो बालक आज सैर भर का पत्थर नहीं उठा सकता, वह काल-परिपाक के बाद युवा होने पर मन भर पत्थर को अधर उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है, क्या आज ही उसके मधुर फलों का रसा-स्वादन कर सकते हैं? वर्षों के बाद कहीं आम्रफल के दर्शन होंगे। शीत-ऋतु में ही सूर्य तपता है, शीत-काल में ही शीत पड़ता है। युवावस्था में ही पुरुष के दाढ़ी-मूँछ आती हैं। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। समय आने पर ही सब कार्य स्वतः होते हैं। अतः काल की बड़ी महिमा है।

स्वभाववाद :

यह दर्शन भी कुछ कम बजनेदार नहीं है। वह भी अपने समर्थन में बड़े अच्छे तर्क उपस्थित करता है। स्वभाववाद का कहना है कि संसार में जो - कुछ

भी कार्य हो रहे हैं, सब वस्तुओं के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, कर्म, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते। आम की गुठली में आम का वृक्ष होने का स्वभाव है, इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सब - कुछ कर सकता है, तो क्या निंबौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है? कभी नहीं। स्वभाव का बदलना बड़ा कठिन कार्य है। कठिन क्या, असम्भव कार्य है। नीम के वृक्ष को गुड़ और घी से वर्षों सींचते रहिये, क्या वह मधुर हो सकता है? दही विलोने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नहीं। क्योंकि दही में मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव गर्म है, जल का स्वभाव शीतल है, सूर्य का स्वभाव दिन करना है और तारों का स्वभाव रात करना है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष बेचारे काल आदि क्या कर सकते हैं।

कर्मवाद :

यह दर्शन तो भारतवर्ष में बहुत ही प्रसिद्धि - प्राप्त दर्शन है। भारतीय चिन्तन क्षेत्र में यह एक प्रबल दार्शनिक विचार - धारा है। कर्मवाद का कहना है काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि सब नगण्य हैं। संसार

में सर्वत्र कर्म का ही एकछत्र साम्राज्य है। देखिए— एक माता के उदर से एक साथ दो बालक जन्म लेते हैं, उनमें एक बुद्धिमान होता है, दूसरा मूर्ख। एक सुरूप है, दूसरा कुरूप है। एक लोभी-लालची, दूसरा उदार - दानी। बाहर का वातावरण तथा रंग - ढंग एक होने पर भी यह भेद क्यों हैं ? इस भेद का कारण कर्म है। मनुष्य के नाते वरावर होने पर भी मानव-मानव में बहुत बड़ा अन्तर है, बहुत बड़ा भेद है। इस अन्तर का और कोई हेतु नहीं है। कर्म ही इस भेद का प्रमुख कारण है। हर प्राणी के अपने - अपने कर्म हैं। राजा को रंक और रंक को राजा बनाना, कर्म के बाँए हाथ का खेल है। तभी तो एक विद्वान् ने कहा है—'गहना कर्मणो गतिः' अर्थात्— कर्म की गति बड़ी गहन है।

पुरुषार्थवाद :

इस बात का भी संसार में कम महत्त्व नहीं है। यह ठीक है कि जनता ने पुरुषार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह समझा नहीं है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुषार्थवाद का कहना है कि बिना पुरुषार्थ के संसार का एक भी कार्य सफल नहीं हो सकता। संसार में जहाँ कहीं भी, जो भी कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल में कर्ता का अपना पुरुषार्थ

ही छिपा हुआ होता है। काल कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होते हैं। परन्तु, उस समय में भी यदि पुरुषार्थ न हो, तो क्या वह कार्य हो जाएगा ? आम की गुठली में आम पैदा करने का स्वभाव है, परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही कोठे में रखी हुई गुठली में से आम का पेड़ लग जाएगा ? कर्म का फल भी क्या बिना पुरुषार्थ के यों ही हाथ-पर-हाथ धर कर बैठे हुए मिल जाएगा ? संसार में मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह आने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा में उड़ रहा है, परमाणु बम जैसे महान् आविष्कार करने में सफल हो रहा है, यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नहीं तो क्या है ? एक मनुष्य भूखा है, कई दिनों का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भर कर सामने रख देता है, वह नहीं खाता है। मिठाई लेकर मुँह में डाल देता है, फिर भी नहीं चबाता है और गले के नीचे नहीं उतारता है। अब कहिए, बिना पुरुषार्थ के क्या होगा ? क्या यों ही भूख बुझ जाएगी। आखिर मुँह में डाली हुई मिठाई को चबाने का, और चबा कर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। सोये हुए सिंह के मुख में हिरन अपने आप आ कर नहीं पड़ते हैं। तभी कहा है—

“पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो !”

नियतिवाद :

यह दर्शन जरा गम्भीर है। जड़ - चेतन - रूप विश्व जगत् के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना है कि—संसार में जितने भी कार्य होते हैं, सब नियति के अधीन ही होते हैं। सूर्य पूर्व ही में उदय होता है, पश्चिम में क्यों नहीं? कमल जल में ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्यों नहीं? पक्षी आकाश में उड़ सकते हैं, गधे, घोड़े क्यों नहीं? हंस श्वेत क्यों है? कोयल काली क्यों है? पशु के चार पैर होते हैं, मनुष्य के दो ही क्यों हैं? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यों जाती है? इन सब प्रश्नों का उत्तर केवल यही है कि विश्व-प्रकृति का जो नियम है, वह अन्यथा नहीं हो सकता। यदि अन्यथा होने लगे, तो फिर संसार में प्रलय ही हो जाए। सूर्य पश्चिम में ऊगने लगे, अग्नि शीतल हो जाए, गधे-घोड़े आकाश में उड़ने लगे, तो फिर संसार में कोई व्यवस्था ही न रहे। अतः विश्व में अब तक जो कुछ होता रहा है, भविष्य में जो कुछ होगा और वर्तमान में भी जो हो सकता है, वह सब नियत है। नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ हैं। कोई भी व्यक्ति विश्व-प्रकृति के अटल नियमों के प्रतिकूल नहीं जा सकता। अतः विश्व में नियति ही सब से महान् है।

भगवान् महावीर ने उक्त एकान्तवादों के संघर्ष की समस्या को बड़ी अच्छी तरह सुलझाया है। संसार के सामने भगवान् महावीर ने समन्वय की वह बात रखी है, जो पूर्णतया सत्य पर आधारित है।

समन्वयवाद :

० भगवान् महावीर का कहना है कि पाँचों ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक है। संसार में जो भी कार्य होता है, वह पाँचों के समबाय से अर्थात् मेल से ही होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि एक ही वाद अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान् मनुष्य को आग्रह छोड़कर सब का समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशा मात्र है। यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक कारण प्रधान हो और दूसरे सब गौण हों। परन्तु, यह नहीं हो सकता कि कोई एक कारण ही स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

० भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोनो वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग में आम की गुठली बोता है, यहाँ पाँचों कारणों के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली में आम पैदा करने का स्वभाव है, परन्तु बोनो का और बो कर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो, तो क्या होगा? बोनो का पुरुषार्थ भी कर लिया

पर विना निश्चित काल का परिपाक हुए आम यों ही असमय में जल्दी थोड़े ही तैयार हो जाएगा ? काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ - कर्म अनुकूल नहीं है, तो फिर भी आम नहीं लगने का । कभी-कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है । अब रही, नियति । वह तो सब कुछ है ही । आम से आम होना विश्व प्रकृति का निश्चित नियम है, इससे कौन इन्कार कर सकता है ? विश्व जगत् में जो भी घटना घटित होती है, वह नियति के अधीन ही होती है, स्वतन्त्र नहीं ।

० पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचों कारण आवश्यक हैं । पढ़ने के लिए चित्त की एकाग्रतारूप स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाए, पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाए, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ-कर्म का उदय भी हो और नियति का योगदान भी साथ हो, तभी वह पढ़ - लिखकर विद्वान् हो सकता है । अनेकान्तवाद के द्वारा किया जाने वाला यह समन्वय ही वस्तुतः जनता को सम्यक् प्रकाश दिखलाता है ।



नैतिकता का मूलाधार : कर्मवाद

० दार्शनिक वादों की दुनिया में कर्मवाद भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। भगवान् महावीर की सैद्धान्तिक विचारधारा में तो कर्मवाद का अपना एक विशेष स्थान रहा है। बल्कि, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कर्मवाद के समको समझे बिना जैन - दर्शन का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैन-धर्म तथा जैन - संस्कृति का भव्य भवन कर्मवाद की गहरी एवं सुदृढ़ नींव पर ही टिका हुआ है। अतः आइए, कर्मवाद के सम्बन्ध में कुछ मुख्य - मुख्य बातें समझ लें।

कर्मवाद का ध्येय

कर्मवाद की धारणा है कि संसारी आत्माओं की सुख - दुःख, सम्पत्ति - विपत्ति और ऊँच - नीच आदि जितनी भी विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सभी में काल एवं स्वभाव आदि की तरह कर्म भी एक प्रबल कारण है। जैन - दर्शन जीवों की इन विभिन्न परिणतियों में ईश्वर को कारण न मान कर, कर्म को ही कारण मानता है। अध्यात्म-शास्त्र के मर्म-स्पर्शी सन्त देवचन्द्रजी ने कहा है—

“रे जीव साहस आदरो, मत थावो तुम दीन;
सुख - दुख सम्पद्-आपदा, पूरव कर्म-अधीव ।”

यद्यपि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता और कर्मफल का दाता माना गया है; परन्तु जैन - दर्शन सृष्टि - कर्त्ता और कर्मफल - दाता के रूप में ईश्वर की कोई कल्पना ही नहीं करता। जैन - धर्म का कहना है कि जीव जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही उसके फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। मकड़ी खुद ही जाला पूरती है और खुद ही उसमें फँस भी जाती है। इस सम्बन्ध में आत्मा का लक्षण वत्ताते हुए, एक विद्वान् आचार्य क्या ही अच्छा कहते हैं—

“स्वयं कर्म करोत्यात्मा,
स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे,
स्वयं तस्माद् विमुच्यते ।”

यह आत्मा स्वयं ही कर्म करने वाला है और स्वयं ही उसका फल भोगने वाला भी है। स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है, और एक दिन धर्म - साधना के द्वारा स्वयं ही संसार के बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।

आक्षेप और समाधान :

ईश्वरवादियों की ओर से कर्मवाद पर कुछ आक्षेप भी किये गए हैं, परन्तु जैन - धर्म का यह महान्

सिद्धान्त आलोचकों की परीक्षाग्नि में पड़ कर और भी अधिक उज्ज्वल एवं समुज्ज्वल बना है। सभी आक्षेपों को यहाँ वतलाने के लिए अवकाश नहीं है, तथापि मुख्य - मुख्य आक्षेप जान लेने आवश्यक हैं। जरा ध्यान से पढ़िए—

१. प्रत्येक आत्मा अच्छे कर्म के साथ बुरे कर्म भी करता है, परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता है। चोर चोरी करता है, पर वह यह कब चाहता है कि मैं पकड़ा जाऊँ ? दूसरी बात यह है कि कर्म स्वयं जड़ - रूप होने से वह किसी भी ईश्वरीय चेतना की प्रेरणा के बिना फल प्रदान में असमर्थ भी है। अतएव कर्मवादियों को मानना चाहिए कि ईश्वर प्राणियों को कर्मफल देता है।

२. कर्मवाद का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि कर्म से छूट कर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं। यह मान्यता तो ईश्वर और जीव में कोई अन्तर ही नहीं रहने देती, जो कि अतीव आवश्यक है।
० जैन - दर्शन ने उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा युक्ति-युक्त समाधान किया है। जैन - दर्शन का कर्मवाद तर्कों के यथार्थ सुदृढ़ धरातल पर स्थित है। अतः वह आधारहीन आलोचनाओं से, धराशायी नहीं हो सकता। पूर्वोक्त किए गए आक्षेपों के निराकरण की उसकी समाधान पद्धति द्रष्टव्य है।

१. आत्मा जैसा कर्म करता है, कर्म के द्वारा उसे वैसा ही फल मिल जाता है। यह ठीक है कि कर्म स्वयं जड़ - रूप है और बुरे कर्म का फल भी कोई नहीं चाहता। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि चेतना के संसर्ग से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह अच्छे - बुरे कर्मों का फल जीव पर प्रकट करता है। जैन - धर्म यह कब कहता है कि कर्म, चेतना के संसर्ग के बिना भी फल देता है। वह तो यही कहता है कि कर्म - फल देने में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है।

० कल्पना कीजिए कि मनुष्य धूप में खड़ा है। अत्यन्त गर्म चीज खा रहा है, और यह चाहता है कि मुझे प्यास न लगे। यह कैसे हो सकता है? एक सज्जन मिर्च खा रहे हैं और चाहते हैं कि मुँह न जले क्या, यह सम्भव है? एक आदमी शराब पीता है, और साथ ही चाहता है कि नशा न चढ़े। क्या यह व्यर्थ की कल्पना नहीं है? केवल चाहने और न चाहने भर से कुछ नहीं होता है। जो कर्म किया है उसका फल भी भोगना आवश्यक है। क्रिया की प्रतिक्रिया होना अवश्यभावी है। इसी विचारधारा को लेकर जैन - दर्शन कहता है कि जीव स्वयं कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भी भोगता है। शराब आदि का नशा चढ़ाने के लिए क्या शराबी

और शराब के अतिरिक्त किसी तोसरे ईश्वर आदि की भी कभी आवश्यकता पड़ी है ? कभी नहीं ।

२. ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन है । तब दोनों में भेद क्या रहा ? भेद केवल इतना ही है कि जीव अपने कर्मों से बँधा है और ईश्वर उन बन्धनों से मुक्त हो चुका है । एक कवि ने इसी बात को कितनी सुन्दर भाषा में अभिव्यक्त किया है—

“ आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है ?

काट दे गर कर्म तो फिर भेद है ना खेद है ।”

जैन-दर्शन कहता है कि ईश्वर और जीव के बीच विषमता का कारण औपाधिक कर्म है । उसके हट जाने पर विषमता टिक नहीं सकती । अतएव कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर बन जाते हैं । सोने में से मैल निकाल दिया जाए, तो फिर मलिन सोने के शुद्ध सोना होने में क्या आपत्ति है ? आत्मा में से कर्ममल को दूर करना चाहिए, फिर आत्मा ही शुद्ध परमात्मा बन जाता है ।

० निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव कर्म करने में जैसे स्वतन्त्र है, वैसे कर्मफल भोग में भी वह स्वतन्त्र ही रहता है । ईश्वर का वहाँ कोई हस्तक्षेप नहीं होता ।

कर्म-सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप :

मनुष्य जब किसी कार्य को आरम्भ करता है, तो उसमें कभी - कभी अनेक विघ्न और बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मन चंचल हो जाता है और वह घबरा उठता है। इतना ही नहीं, वह किकर्तव्य - विमूढ़ - सा बन कर अपने आसपास के संगी-साथियों को अपना शत्रु समझने की भूल भी कर बैठता है। फल - स्वरूप अंतरंग कारणों को भूल कर बाहरी कारणों से जूझता रहता है।

• ऐसी दशा में मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से बचाकर सत्पथ पर लाने के लिए किसी विशिष्ट चिन्तन की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह चिन्तन और कोई नहीं, कर्म-सिद्धान्त ही हो सकता है। कर्मवाद के अनुसार मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि जिस अन्तरंग - भूमि में विघ्न-रूपी विषवृक्ष अंकुरित और फलित हुआ है, उसका बीज भी उसी भूमि में होना चाहिए। बाहरी शक्ति तो जल और वायु की भाँति मात्र निमित्त कारण हो सकती है। असली कारण तो मनुष्य को अपने अन्तर् में ही मिल सकता है, बाहर नहीं। और वह कारण अपना किया हुआ कर्म ही है, और कोई नहीं। अस्तु, जैसे कर्म किए हैं, वैसा ही तो उनका फल मिलेगा। नीम का वृक्ष

लगा कर यदि कोई आम के फल चाहे, तो कैसे मिलेंगे ? मैं बाहर के लोगों को व्यर्थ ही दोष देता हूँ । उनका क्या दोष है ? वे तो मेरे अपने कर्मों के अनुसार ही इस दशा में परिणत हुए हैं । यदि मेरे कर्म अच्छे होते, तो वे भी अच्छे न हो जाते ? जल एक ही है, वह तम्बाकू के खेत में कड़वा बन जाता है, तो ईख के खेत में वही मीठा भी हो जाता है । जल अपने आप में अच्छा - बुरा नहीं है । अच्छा बुरा है—ईख और तम्बाकू । यही बात मेरे संगी - साथियों के सम्बन्ध में भी है । यदि मैं अच्छा हूँ, तो सब अच्छे हैं, और मैं बुरा हूँ, तो सब बुरे हैं ।

० मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए मानसिक शान्ति की बड़ी आवश्यकता है और वह उसको कर्म - सिद्धान्त से ही मिल सकती है । अर्धरी और तूफान में जैसे हिमाचल अटल और अडिग रहता है, वैसे ही कर्मवादी मनुष्य भी अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों में शान्त एवं स्थिर रह कर अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है । अतएव कर्मवाद का सिद्धान्त मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में बड़ा उपयोगी प्रमाणित होता है ।

० कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता और श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डॉ० मैक्समूलर के विचार बहुत ही सुन्दर और विचारणीय हैं । उन्होंने लिखा है—

“यह तो सुनिश्चित है कि कर्मवाद का प्रभाव मनुष्य जीवन पर बेहद पड़ा है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम हो जाए, कि वर्तमान अपराध के सिवा भी मुझ को जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्तभाव से प्राप्त कष्ट को सहन कर लेगा। और, यदि वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है, तथा उसी से भविष्य के लिए समृद्धि भी एकत्र जा सकती है, तो उस को भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा स्वतः मिल जाएगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बलसंरक्षण-सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शंका क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म-सिद्धान्त सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भावी जीवन को सुधारने की दिशा में भी प्रोत्साहन और आत्मिक बल मिलता है।”

पाप क्या और पुण्य क्या ?

० साधारण जनता यह समझती है कि किसी को कष्ट एवं दुःख देने से पाप - कर्म का बांध होता है। परन्तु जब हम दार्शनिक दृष्टि से कर्मवाद का गम्भीर चिन्तन करते हैं, तो पाप और पुण्य की यह उपर्युक्त कसौटी खरी नहीं उतरती है, क्योंकि कितनी ही बार उक्त कसौटी के सर्वथा विपरीत परिणाम भी हांते हैं।

० एक मनुष्य किसी को कष्ट देता है, जनता समझती है कि वह पाप - कर्म बांध रहा है, परन्तु वह बांधता है अन्तरंग में पुण्य - कर्म। और कभी कोई मनुष्य किसी को सुख देता है, तो ऊपर से वह अच्छा लगता है, परन्तु बांध रहा है पाप - कर्म। इस भाव को समझने के लिए कल्पना कीजिए—एक डॉक्टर किसी फोड़े के रोगी का आपरेशन करता है उस समय रोगी को कितना कष्ट होता है, कितना चिल्लाता है ? परन्तु डॉक्टर यदि शुभभाव से चिकित्सा करता हो, तो वह पुण्य बांधता है, पाप नहीं। माता - पिता हित - शिक्षा के लिए अपनी सन्तान को ताड़ते हैं, नियंत्रण में रखते हैं, तो क्या वे पाप बांधते हैं ? नहीं, वे पुण्य बांधते हैं। इसके विपरीत एक मनुष्य ऐसा है, जो दूसरों को ठगने के लिए मीठा बोलता है, सेवा करता है, भजन - पूजन भी करता है, तो क्या वह

पुण्य बाँधता है ? नहीं, वह भयंकर पाप - कर्म का बन्ध करता है। अन्दर में दुर्वृत्ति का विष रख कर बाहर में कोई कितना ही अमृत-वितरण का नाटक करे, उससे कुछ भी पुण्य-कर्म नहीं हो सकता।

० अतएव महावीर का कर्म - सिद्धान्त कहता है कि पाप और पुण्य का बन्ध किसी भी बाह्य क्रिया पर आधारित नहीं है। बाह्य क्रियाओं की पृष्ठ - भूमि-स्वरूप अन्तःकरण में जो शुभाशुभ भावनाएँ हैं, वे ही पाप और पुण्य - बन्ध की खरी कसौटी है। क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसे ही शुभाशुभ कर्म - फल मिलता है—

‘बादृशी भावना यस्मै, सिद्धिर्भवति तादृशी :’

कर्म का अनादित्व

० दार्शनिक क्षेत्र में यह प्रश्न चिरकाल से चक्कर काट रहा है कि कर्म सादि हैं अथवा अनादि ? सादि का अर्थ है—आदिवाला, जिसका एक दिन प्रारम्भ हुआ हो। अनादि का अर्थ है—आदि - रहित, जिसका कभी भी प्रारम्भ न हुआ हो, जो अनन्त काल से चला आ रहा हो। भिन्न - भिन्न दर्शनों ने इस सम्बन्ध में भिन्न - भिन्न उत्तर दिए हैं। जैन - दर्शन भी इस प्रश्न का अपना एक अकाट्य उत्तर रखता है। वह अनेकान्त की भाषा में कहता है कि—कर्म सादि भी है, ओर अनादि भी। इसका स्पष्टीकरण यह है कि

कर्म किसी - किसी विशेष कर्म की अपेक्षा से सादि भी है, और अपने परम्परा - प्रवाह की दृष्टि से अनादि भी है ।

० कर्म का प्रवाह कब चला ? इस प्रश्न के उत्तर में जैन - दर्शन का कहना है कि कर्मप्रवाह से अनादि है । आत्मा अनादि है, तो उसके सुख - दुःख का, जन्म मरण का, अन्य भी अनेक परिवर्तनों का हेतु कर्म चक्र भी अनादि है । और इधर प्रत्येक प्राणी अपनी प्रत्येक क्रिया में नित्य नए कर्म-बन्धन करता रहता है । अतः व्यक्ति की अपेक्षा से कर्म सादि भी कहा जाता है ।

० भविष्यत्काल के समान अतीतकाल भी असीम एवं अनन्त है । अतएव भूतकालीन अनन्त का वर्णन 'अनादि' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से हो नहीं सकता । इसलिए कर्म - प्रवाह को अनादि माने बिना दूसरी कोई गति नहीं है । यदि हम कर्म-बन्धन को अमुक निश्चित तिथि मानें, तो प्रश्न उठता है कि उससे पहले आत्मा किस रूप में था ? यदि शुद्ध रूप में था, कर्म - बन्धन से सर्वथा रहित था, तो फिर शुद्ध आत्मा को कर्म कैसे लगे ? यदि शुद्ध को भी कर्म लग जाएँ, तो फिर शुद्ध होने पर मोक्ष में भी कर्म - बन्धन का होना मानना पड़ेगा । ऐसी दशा में मोक्ष का मूल्य ही क्या रहेगा ? केवल मुक्त आत्मा की ही

क्या बात ? ईश्वर - वादियों का शुद्ध ईश्वर भी फिर तो कर्मबन्धन के द्वारा विकारी एवं संसारी हो जाएगा । अतएव शुद्ध अवस्था में किसी प्रकार से कर्म-बन्धन का मानना, युक्ति - युक्त नहीं है । इसी अमर सत्य को ध्यान में रख कर जैन - दर्शन ने कर्म-प्रवाह को अनादि माना है ।

कर्म-बन्ध के कारण :

० यह एक अटल सिद्धान्त है कि कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं होता । बीज के बिना कभी वृक्ष पैदा होता है ? कभी नहीं । हाँ, तो कर्म भी एक कार्य है । अतः उसका कोई - न - कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए । बिना कारण के कर्म - स्वरूप कार्य किसी प्रकार भी अस्तित्व में नहीं आ सकता ।

जैन - धर्म में कर्म-बन्ध के मूल कारण दो बतलाए हैं—राग और द्वेष । भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने प्रवचन में कहा—रागो य दोसो बीय कम्म-बीयं । अर्थात्—राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं, मूल कारण हैं । आसक्ति - मूलक प्रवृत्ति को राग, और घृणा मूलक प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं । पुण्य कर्म के मूल में भी किसी - न - किसी प्रकार की सांसारिक मोहमाया एवं आसक्ति ही होती है । घृणा और आसक्ति से रहित शुद्ध प्रवृत्ति तो कर्म - बन्धन को तोड़ती है, बाँधती नहीं है ।

कर्म - बन्धन से मुक्ति का उपाय :

० कर्म - बन्धन से रहित होने का नाम मुक्ति है । जैन - धर्म की मान्यता है कि—जब आत्मा राग-द्वेष के बन्धन से छुटकारा पा लेता है, आगे के लिए कोई नया कर्म बांधता नहीं है, और पुराने बँधे हुए कर्मों को भोग लेता है या धर्म-साधना के द्वारा पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है, तो फिर सदा काल के लिए मुक्त हो जाता है । जब तक कर्म और कर्म के कारण राग-द्वेष से मुक्ति नहीं मिलेगी, तब तक आत्मा किसी भी दशा में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता ।

० अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि कर्म - बन्धन से मुक्ति पाने के क्या साधन हैं, क्या उपाय हैं ? जैन-धर्म इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर देता है । वह कहता है कि आत्मा ही बाँधने वाला है और वही उसे तोड़ने वाला भी है । कर्मों से मुक्ति पाने के लिए वह बाहर में किसी देव या ईश्वर आदि के सामने गिड़गिड़ाने अथवा नदी, नालों और पहाड़ों पर तीर्थ-यात्रा के रूप में भटकने के लिए कभी प्रेरणा नहीं देता । वह मुक्ति का साधन अपनी आत्मा में ही तलाश करता है । जैन - तीर्थकरों ने मोक्ष - प्राप्ति के तीन साधन माने हैं :—

(१) **सम्यग्दर्शन**—आत्मा है, वह चैतन्य तत्त्व है, जड़ पदार्थ नहीं। वह अजर - अमर - अविनाशी है, तीन काल में कभी नष्ट नहीं हो सकता। वह कर्मों से बँधा हुआ है और एक दिन अपनी ही सुप्त चेतना के जागृत होने पर बन्धन से मुक्त हो कर सदा के लिए शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार परमात्मा भी हो सकता है। इस प्रकार के दृढ़ आत्म - विश्वास का नाम ही समयक् - दर्शन है। सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मा की हीनता के और दीनता के भाव क्षीण हो जाते हैं और अपनी ही आत्म - शक्ति के प्रचण्ड तेजो-मय विश्वास के अचल-भाव जागृत होते हैं।

(२) **सम्यग्ज्ञान**—चैतन्य और जड़ पदार्थों के भेद का ज्ञान करना, संसार और उसके राग-द्वेषादि कारण तथा मोक्ष और उसके सम्यग्दर्शनादि साधनों का भली - भाँति चिन्तन - मनन करना, सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सांसारिक दृष्टि से कोई कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो, यदि उसका ज्ञान मोह - माया के बन्धनों को ढीला नहीं करता है, विश्वकल्याण की भावना को प्रोत्साहित नहीं करता है, आध्यात्मिक जागृति में बल पैदा नहीं करता है, तो वह ज्ञान सम्यक् - ज्ञान नहीं कहला सकता। सम्यक् - ज्ञान के लिए आध्यात्मिक चेतना एवं पवित्र उद्देश्य की अपेक्षा

है। मोक्षाभिमुखी आत्म - चेतना ही वस्तुतः सम्यक्-ज्ञान है।

(३) **सम्यक् - चारित्र**— विश्वास और ज्ञान के अनुसार आचरण भी तो आवश्यक है। महावीर का धर्म चारित्र प्रधान धर्म है। वह केवल स्थूल भावनाओं और संकल्पों की ही सीमा में आबद्ध नहीं है, वह अन्तर्जगत को ज्योतिर्मय बनाने के लिए यथोचित आत्म-पुरुषार्थ के जागरण का धर्म है। अतएव सम्यक्-दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार व्यवहार में निर्मल-भाव से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि की साधना करना ही सम्यक्-चारित्र है। और निश्चय में मोह और क्षोभ से, राग और द्वेष से मुक्त शुद्ध वीतरागभाव ही सम्यक्-चारित्र है। निश्चय चारित्र मोक्ष का साक्षात् कारण है और व्यवहार-चारित्र परंपरा कारण। क्रिया-काण्डरूप चारित्र शुद्ध निश्चय चारित्र के लिए केवल पृष्ठभूमिमात्र है। इस कारण वह देशकालानुसार परिवर्तित भी होता रहता है। अतः वह औपचारिक धर्म है, आत्मनिष्ठ शुद्ध मूलधर्म नहीं है। आत्मलीनता-रूप वीतरागता शुद्ध मूलधर्म है, वह देशकालानुसार न कभी परिवर्तित हुआ है और न होगा। भगवान् महावीर इसी वीतरागता को सम्यक् - चारित्र कहते हैं।

१०८ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य— जब तीनों पूर्ण हो जाते हैं, पूर्णता की दृष्टि से जब तीनों शुद्ध आत्म-चेतना के रूप में एकाकार एवं एकरस हो जाते हैं, एक सहज पूर्ण अद्वैतभाव प्रतिष्ठापित हो जाता है, तब आत्मा परमात्मा हो जाता है। यह है जैन - दर्शन की साधना का चरम लक्ष्य। इसी भाव को लक्ष्य में रखते हुए कहा गया है—

“कर्मबद्धो भवेज्जीवः,
कर्ममुक्तस्तथा जिनः।”





भगवान् महावीर

→ महावीर

के
उ
प
देश

आत्मा

: १ :

जे एगं जाणइ, से सब्बं जाणइ ।

— आचारांग

: २ :

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ।

— आचारांग

: ३ :

बंध - पमोक्खो, अज्झत्थेव ।

— आचारांग

: ४ :

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा घेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥

— उत्तराध्ययन

: ५ :

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

— उत्तराध्ययन

: ६ :

आयओ बहिया पास ।

— आचारांग

आत्मा

। १ ।

जो एक आत्म - स्वरूप को जानता है, वह सब - कुछ जानता है ।

: २ :

पुरुष ! तू स्वयं ही अपना मित्र है । तू बाहर में मित्रों की किस खोज में है ?

: ३ :

बन्ध और मोक्ष अपनी स्वयं की आत्मा पर निर्भर है ।

: ४ :

अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है । और अपनी आत्मा ही स्वर्ग की कामदुधा धेनु तथा नन्दन वन है ।

: ५ :

अपनी आत्मा के विकारों के साथ ही युद्ध करना चाहिए । बाहरी शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्म-जयी होने वाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है ।

: ६ :

अपनी आत्मा के समान ही बाहर में दूसरों को भी देख ।

महावीर : सिद्धान्त और उपदेश : ११२

: ७ :

संबुज्जह किं न बुज्जह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमंति राइओ, नो सुल्लभं पुणरावि जीवियं ॥

—सूत्रकृतांग

: ८ :

जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया ।
जेण विजाणाइ से आया ॥
तं पडुच्च पडिसंखाए ।

—आचारांग

: ९ :

किं मे कडं, किं च मे किच्चसेसं ।
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥

—दशवै० चूलिका

: १० :

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठअ-सुपट्ठओ ॥

—उत्तराध्ययन

: ११ :

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्जं,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

—आचारांग

: ७ :

मनुष्यो ! जागो.....जागो ! अरे तुम क्यों नहीं जागते हो ? मृत्यु के बाद परलोक में अन्तर्जागरण प्राप्त होना दुर्लभ है । बीती हुई रात्रियाँ कभी लौट कर नहीं आतीं । मानव-जीवन पुनर्वार पाना आसान नहीं है ।

: ८ :

जो आत्मा है, वही विज्ञाता है । जो विज्ञाता है, वही आत्मा है । क्योंकि ज्ञान के कारण ही आत्मा है, अर्थात् जड़ से भिन्न है । जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है ।

: ९ :

प्रत्येक साधक प्रतिदिन चिन्तन करे कि—मैंने क्या सत्कर्म कर लिया है, और अभी क्या करना है ? कौन-सा ऐसा शक्य सत्कार्य है— जिसको मैं कर तो सकता हूँ, पर कर नहीं रहा हूँ ।

: १० :

स्वयं आत्मा ही अपने सुख - दुःख का कर्ता तथा भोक्ता है । अच्छे मार्ग पर गतिशील निज आत्मा ही अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलनेवाला निज ही अपना शत्रु है ।

: ११ :

मानव ! तू अपने आपको अपने वश में कर । ऐसा करने से ही तू दुःखों से छुटकारा पा सकेगा ।

११४ : महावीर : सिद्धान्त और उष्देक

: १२ :

एगे अहमंसि, न मे अत्थि काइ,
न याऽहमवि कस्स वि ।

—आचारांग

: १३ :

इमेणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ?
जुज्झारिहं खलु दुल्लहं ॥

—आचारांग

: १४ :

न तं अरी कंठच्छेत्ता करेइ ।

जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ॥

—उत्तराध्ययन

: १५ :

एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण-संजुओ ।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग-लक्खणा ॥

—संथारपइत्ता

: १६ :

अत्थि मे आया उववाइए.....

जे आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।

— आचारांग

: १७ :

से असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए ।

नो हीणे, नो अइरित्ते ।

— आचारांग

: १२ :

मेरा आत्मा अकेला है—मैं अकेला हूँ।
न कोई मेरा है, और न मैं किसी का हूँ।

: १३ :

युद्ध करना है, तो अपनी वासनाओं से युद्ध करो। बाह्य युद्धों से तुम्हें क्या मिलेगा? यदि इस द्वार चूक गए, तो फिर आत्मजयी युद्ध का अवसर मिलना दुर्लभ है।

: १४ :

सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अक्षकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में आसक्त अपनी आत्मा करती है।

: १५ :

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से परिपूर्ण मेरी आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है। आत्मा के सिवा अन्ध सब बाह्य भाव संयोग - मात्र हैं।

: १६ :

यह मेरी आत्मा औपचारिक है, कर्मनुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है। आत्मा के पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है।

: १७ :

बहु जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीचगोत्र में। इस प्रकार विभिन्न गोत्रों में जन्म लेने से न कोई हीन होता है, न कोई महान्।

११६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: १८ ॥

एगमप्पाणं संपेहाए घुणे सरीरगं ।

— आचारांग

: १९ ::

नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावाविव इोइ निच्चो

— उत्तराध्ययन

: २० :

अन्नो जीवो अन्नं सरीरं

— सूत्रकृतांग

: २१ :

एगप्पा अजिए सत्तु ।

— उत्तराध्ययन

: २२ :

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चई नाविओ ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।

— उत्तराध्ययन

: २३ :

एगे आया ।

— स्नानांगसूत्र

: २४ :

हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवो ।

— भगवतीसूत्र

: २५ :

जीवा सिय सासया, सिय असासया ।

दब्बट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया ।

— भगवतीसूत्र

: १८ :

आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोग-लिप्त शरीर को धुन डालो ।

: १९ :

आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रिय-प्राह्य नहीं है । अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है ।

: २० :

आत्मा और है, शरीर और है ।

: २१ :

स्वर्य ही अविजित—असंयत आत्मा ही स्वर्य का प्रधान शत्रु है ।

: २२ :

यह शरीर नौका है, जीव - आत्मा उसका नाविक (मल्लाह) है और संसार समुद्र है । महर्षि इस देहरूपी नौका के द्वारा संसार - सागर को तैर जाते हैं ।

: २३ :

स्वरूप - दृष्टि से सब आत्माएँ एक (समान) हैं ।

: २४ :

आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुत्था दोनों में आत्मा एक समान है ।

: २५ :

जीव शाश्वत भी हैं, अशाश्वत भी । द्रव्यदृष्टि (मूल-स्वरूप) से शाश्वत (नित्य) हैं तथा भावदृष्टि (मनुष्य-आदि पर्याय - दृष्टि) से अशाश्वत (अनित्य) हैं ।

११८ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

कर्मवाद :

: १ :

जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो ।
सयमेव कडेहि गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्ज पुट्टयं ॥

— सूत्रकृतांग

: २ :

सकम्मुणा विप्परियासमुवेइ ।

— सूत्रकृतांग

: ३ :

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंडंति भयाडला सदा, जाइ-जरा-मरणेहिभिद्दुया ॥

— सूत्रकृतांग

: ४ :

सेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चई पावकारी ।
एव पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

— उत्तराध्ययन

: ५ :

अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ ।
अप्पणा चेव संवरइ ।

— भगवतीसूत्र

कर्मवाद

: १ :

इस जगत् में जो भी प्राणी हैं, वे अपने - संचित कर्मों के कारण ही संसार में भ्रमण करते हैं और स्वकृत कर्मों के अनुसार ही भिन्न - भिन्न योनियाँ पाते हैं। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मों से प्राणी मुक्त नहीं होता।

: २ :

प्राणी अपने ही कृत - कर्मों से प्रतिकूल (दुःखरूप) फल पाता है।

: ३ :

सब प्राणी अपने कर्मों के अनुसार पृथक्-पृथक् योनियों में अवस्थित हैं। कर्मों की अधीनता के कारण अव्यक्त दुःख से दुःखित प्राणी जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत रहते हुए चार गति - रूप संसार - चक्र में भटकते हैं।

: ४ :

जैसे पापकर्मा चोर खात के मुँह पर पकड़ा जा कर अपने कर्मों के कारण ही दुःख उठाता है, उसी तरह से इस लोक या परलोक में कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। फल भोगे बिना संचित कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता।

: ५ :

आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उद्धारणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उसकी गृही-आलोचना करता है और अपने द्वारा ही कर्मों का संवर (आश्रव-निरोध) करता है।

१२० : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

रागो य दोसो बिय कम्म बीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई - मरणं वयंति ॥
— उत्तराध्ययन

: ७ :

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ।
— सूत्रकृतांग

: ८ :

सुवकमूले जहा रुक्खे, सिचमाणो ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥
: ९ :

जहा दड्ढाणं, बीयाणं, ण जायंति पुण अंकुरा ।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥
— दशाश्रुतस्कंध

: १० :

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए ।
— सूत्रकृतांग

: ११ :

जह रागेण कडाण कम्माणं पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीण - कम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेति ॥
— औपपातिक सूत्र

: ६ :

राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियों का कथन है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण दुःख की परम्परा है।

: ७ :

आत्मा अकेला ही अपने किये दुःख को भोगता है।

: ८ :

जिस तरह मूल के सूख जाने से सींचने पर भी वृक्ष लहलहाता, हराभरा नहीं होता, इसी तरह से मोह-कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः नवीन कर्म उत्पन्न नहीं होते।

: ९ :

जिस तरह दग्ध बीजों में से पुनः अंकुर प्रकट नहीं होते, उसी तरह से कर्म - रूपी बीजों के दग्ध हो जाने से भव-अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं।

: १० :

पहले जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, वह भविष्य में उसी रूप में फल देने आता है।

: ११ :

जैसे राग-द्वेष द्वारा उपाजित कर्मों से फल बुरे होते हैं, वैसे ही सब कर्मों के क्षय से जीव सिद्ध हो कर सिद्धलोक को पहुँच जाते हैं।

१२२ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: १२ :

जहा कडं कम्म, तहासि भारे

--- सूत्रकृतांग

: १३ :

सुचिण्ण कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति,
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवन्ति ।

— औपपातिकसूत्र

: १४ :

अज्जत्थहेउं निययस्स बंधो, संसारहेउं च वयन्ति बंध

--- उत्तराध्ययन

: १५ :

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं

— उत्तराध्ययन

: १६ :

नाणी नवं न बंधइ

— दशवैकालिक निर्युक्ति

: १२ :

जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका फल - भोग ।

: १३ :

अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है, बुरे कर्म का फल भी बुरा होता है ।

: १४ :

कारणों से ही आत्मा के कर्म - बन्धन हैं, और कर्म-बन्धन ही संसार का कारण कहलाता है ।

: १५ :

कर्म सदा उसके कर्ता के ही पीछे - पीछे चलते हैं ।

: १६ :

ज्ञानी नये कर्मों का बन्ध नहीं करता ।

१२४ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

अहिंसा

: १ :

जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सब्वजीवाणं ।
— अनुयोगद्वारसूत्र

: २ :

अहिंसा सब्वभूय - खेमंकरी ।
— प्रश्नव्याकरणसूत्र

: ३ :

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंघण ।
अहिंसा - समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥
— सूत्रकृतांग

: ४ :

अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए ।
— उत्तराध्ययन

: ५ :

वेराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिं रज्जइ ।
पावोवग्गा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥
— सूत्रकृतांग

: ६ :

सव्वे पाणा सुहसाया दुहपडिकूला ।
सव्वेसिं जीवियं पियं नाइवाएज्ज कंचण ।
— आचारांग

अहिंसा

: १ :

जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य सब जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है, यह समझ कर जो न स्वयं हिंसा करता है और न दूसरों से हिंसा करवाता है, वही भ्रमण है, भिक्षु है।

: २ :

अहिंसा समस्त प्राणियों का क्षेम-कुशल करने वाली है।

: ३ :

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है। अहिंसा—सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है, विज्ञान केवल इतना ही है।

: ४ :

छही काया के (समस्त) जीवों को अपन समान समझो।

: ५ :

वैर रखने वाला मनुष्य सदा वैर ही किया करता है। वह वैर में ही आनन्द मानता है। हिंसा-कर्म पाप को उत्पन्न करने वाले हैं, अन्त में दुःख पहुँचाने वाले हैं।

: ६ :

सब प्राणियों को सुख प्यारा लगता है, दुःख अप्रिय है। सब को अपना जीवन प्रिय है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।

१२६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: ७ :

जीव - वहो अप्प - वहो, जीव - दया अप्प-दया होइ ।
ता सब्ब जीव - हिंसा, परिघत्ता अत्तकम्मैहि ॥
भक्त - परिज्ञा

: ८ :

भगवती अहिंसा.....भीयाणं विव सरणं ।
— प्रश्नव्याकरणसूत्र

: ९ :

जं किञ्चि सुहमुआरं पहुत्तणं पयइ - सुदरं जं च ।
आरुगं सोहगं, तं तमहिंसा - फलं सब्बं ॥
— भक्त - परिज्ञा

: १० :

सब्वपाणा न हीलियब्बा, न निदियब्बा
— प्रश्नव्याकरणसूत्र

: ११ :

त्तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालर्यं नत्थि ।
जह तह जयम्मि जाणसु, धम्ममहिंसा-समं नत्थि ॥
— भक्त - परिज्ञा

: १२ :

जइ ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सब्ब-जीवाणं ।
सब्बायरमुवउत्तो, अत्तोवस्सेण कुणसु दयं ॥
— भक्त-परिज्ञा

: ७ :

जीव-हिंसा अपनी हिंसा है, जीव-दया अपनी दया है ।
इसी दृष्टि को ले कर आत्मार्थी साधकों ने हिंसा का सर्वथा
परित्याग किया है ।

: ८ :

भगवती अहिंसा भयाक्रान्त के लिए शरण - प्राप्ति की
तरह हितकर है ।

: ९ :

संसार में जो कुछ भी श्रेष्ठ सुख, प्रभुता, सहज सुन्दरता,
आरोग्य एवं सौभाग्य दिखाई देते हैं, वे सब अहिंसा के ही
फल हैं ।

: १० :

विश्व के किसी भी प्राणी की अवहेलना नहीं करनी
चाहिए, और न निन्दा ही करनी चाहिए ।

: ११ :

संसार में जैसे सुमेरु से ऊँची और आकाश से विशाल
कोई दूसरी चीज नहीं है, इसी प्रकार यह निश्चय समझो
कि अखिल विश्व में अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है ।

: १२ :

जैसे तुझे दुःख अप्रिय है, इसी प्रकार संसार के सब जीवों
को दुःख अप्रिय है—ऐसा समझ कर सब प्राणियों के प्रति
उपयोगपूर्वक आदर एवं आत्मवत् दया करो ।

१२८ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: १३ :

एस खलु गंधे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णिरए ।

— आचारांग

: १४ :

तमंसि नाम तं चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि
तुमं सि नाम तं चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि
जुमं सि नाम तं चेव, जं परियावेयव्वं ति मन्नसि ।

— आचारांग

: १५ :

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

— दशवैकालिक

: १६ :

तत्थिमं पड्ढमं ठाणं महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥

— दशवैकालिक

: १३ :

यह जीव - हिंसा ही ग्रन्थ—कर्मों का बन्ध है, यही मोह है, यही मृत्यु है, और यही तरक है ।

: १४ :

जिसे तू मारना चाहता, वह तू ही है ।

जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है ।

जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है ।

(यह अद्वैतभावना ही अहिंसा का मूलाधार है ।)

: १५ :

संसार में सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना नहीं चाहते । इसलिए प्राणिवध को घोर समझ कर निर्ग्रन्थ उसका परित्याग करते हैं ।

: १६ :

उन पाँचों महाव्रतों में सबसे प्रथम स्थान, जिसका भगवान् महावीर ने निर्देश किया है, अहिंसा का है । सभी प्राणियों पर संयम रखने को ही उन्होंने कुशल अहिंसा कहा है ।

१३० : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

सत्य :

: १ :

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणह ।
सच्चस्स आणाए उवट्टिए मेहावी मारं तरइ ॥

— आचारांग

: २ :

सच्चं खु भगवं ।

— प्रश्नव्याकरण

: ३ :

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥

: ४ :

मुहुत्तदुक्खाहु हवंति कंटया ।
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ॥

वायादुरुत्ताणि दुरद्धराणि ।

वेराणु - बंधीणि महब्भयाणि ॥

— दशवैकालिक

: ५ :

सच्चं लोगम्मि सारभूयं,
गंभीरतरं महासमुद्दाओ ।

— प्रश्नव्याकरण

: ६ :

भासियव्वं हियं सच्चं ।

— प्रश्नव्याकरणसूत्र

सत्य

: १ :

मानव ! सत्य को पहचान । जो मनीषी समझकर सत्य-
मार्ग पर चलता है, वह मृत्यु को पार कर जाता है ।

: २ :

सत्य ही भगवान् है ।

: ३ :

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध अथवा
भय से — किसी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला
असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवाए ।

: ४ :

लोहे के कण्टक तीर तो थोड़ी देर तक ही दुःख देते हैं,
और वे भी शरीर से बड़ी सरलता से निकाले जा सकते हैं ।
किन्तु, वाणी से कहे हुए तीक्ष्ण वचन के तीर बैर-विरोध की
परम्परा को बढ़ा कर भय को उत्पन्न करते हैं, और उन कटु-
वचनों का जीवन-धर्यन्त हृदय से निकलना बड़ा ही कठिन है ।

: ५ :

सत्य ही लोक में सार-तत्त्व है । यह महासमुद्र से भी
अधिक गम्भीर है ।

: ६ :

हितकारी सत्य ही बोलना चाहिए ।

१३२ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

अस्तेय :

: १ :

अणणन्नविय पाणभोयणभोई
से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्जा ।

— आचारांग

: २ :

अदत्तादाणं अकित्तिकरणं,
अणज्जं ... सया साहुगरहणिज्जं ।

: ३ :

असंविभागी, असंगहरूइ
अप्पमाणभोई, से तारिसाए नाराहए वयमिणं ।

: ४ :

संविभागसीले संगहोवग्गहकुसले,
से तारिसाए आराहए वयमिणं ।

— प्रश्नव्याकरण

: ५ :

असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ।

— दशवैकालिक

: ६ :

अणुन्नविय गेण्हियव्वं ।

— प्रश्नव्याकरण

अस्तेय

: १ :

जो गुरुजनों की आज्ञा लिए बिना भोजन करता है, वह अदत्तभोजी है अर्थात् एक प्रकार से चोरी का अन्न खाता है ।

: २ :

चोरी अपयणकारी अनार्य कर्म है । यह श्रेष्ठ जनों द्वारा सर्वैव निन्दनीय रहा है ।

: ३ :

जो असंविभागी है, असंग्रहरूचि है, अप्रमाण-भोजी है, वह अस्तेय-व्रत का सम्यक्-आराधक नहीं है ।

: ४ :

जो संविभागशील है, संग्रह और उपग्रह में कुशल है, वह अस्तेय व्रत का सम्यक् - आराधक है ।

: ५ :

जो संविभागी नहीं है अर्थात् प्राप्त सामग्री का साथियों में सम वितरण नहीं करता है, उसकी मुक्ति नहीं होती ।

: ६ :

दूसरे की कोई भी वस्तु हो, आना ले कर ग्रहण करना चाहिए ।

१३४ : महावीरः सिद्धान्त और उपदेश

ब्रह्मचर्य :

: १ :

आसं च छदं च विगिं च धीरे !

तुमं चैव तं सल्लमाहट्टु । -- आचारांग

: २ :

न कामभोगा समयं उवेति -- उत्तराध्ययन

: ३ :

कामाणुगिद्विप्पभवं खु दुक्खं ।

सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।

जं काइयं माणसियं च किंचि,

तस्संतगं गच्छई वीयरगो ॥

-- उत्तराध्ययन

: ४ :

अब्रंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्टियं

-- दशवैकालिक

: ५ :

जे गुणे से आवट्टे । -- आचारांग

: ६ :

जहां कुम्भे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।

एवं पावाइं मेहावी, अज्जम्पेण समाहरे ॥

: ७ :

तवेसु वा उत्तमं ब्रंभचेरं । -- सूत्रकृतांग

ब्रह्मचर्य

: १ :

धीर पुरुष ! भोगों की आशा तथा लालसा छोड़ दे ! तू इस काँटे को लेकर क्यों दुःखी हो रहा है ?

: २ :

काम-भोगों से शान्ति नहीं मिलती ।

: ३ :

देवताओं सहित समस्त संसार के दुःखों का मूल एकमात्र काम-भोगों की वासना ही है । काम-भोगों के प्रति वीतराग—निःस्पृह साधक शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है ।

: ४ :

अब्रह्मचर्य भयंकर प्रमाद का घर है और असेव्य है ।

: ५ :

इन्द्रियों का विषय ही वस्तुतः संसार है ।

: ६ :

जैसे कछुआ खतरे के समय अपने अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है; उसी प्रकार जानी-जन भी विषयाभिमुख इन्द्रियों को आत्म - ज्ञान से सिकोड़ कर रखे ।

: ७ :

तपस्याओं में ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम तप है ।

१३६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: ८ :

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्टीकुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

— दशवैकालिक

: ९ :

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा ।
बंधयारि नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते ॥

— उत्तराध्ययन

: १० :

कामा दुरतिक्कमा ।

— आचारांग

: ११ :

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोपमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥

— उत्तराध्ययन

: १२ :

मूलमेयमहमस्स महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

— दशवैकालिक

: ८ :

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है, सब प्रकार के स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है।

: ९ :

जो मनुष्य दुष्कर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब नमस्कार करते हैं।

: १० :

काम दुरतिक्रम हैं, अर्थात् कामनाओं की पूर्ति होना कठिन है।

: ११ :

कामभोग शल्य हैं, विष के समान भयंकर हैं, आशीविष सर्प के समान शीघ्र प्राणनाशक हैं। कामों की लालसा से अतृप्त दशा में ही प्राणी दुर्गति में जाते हैं।

: १२ :

अब्रह्मचर्य (मैथुन-सेवन) अधर्म का मूल महान् दोषों का स्रोत है। इसीलिए निर्गन्थ मैथुन-सेवन को वर्जित (निषेध) करते हैं।

अपरिग्रह

: १ :

नत्थि एरिसो पासो,

पडिबंधो अत्थि सव्व-जीवाणं ।

— प्रश्नव्याकरण

: २ :

जे ममाइयमइं, जहाइ, से जहाई ममाइयं ।

से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नत्थि ममाइयं ॥

— आचारांग

: ३ :

पुढवी साली जवा चैव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।

पडिपुण्णं णाल्लमेमस्स इइ विज्जा तवं चरे ॥

— उत्तराध्ययन

: ४ :

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।

तया चयइ संजोगं सव्विभंतर—बाहिरं ॥

— दशवैकालिक

: ५ :

मुच्छा परिग्गहो वृत्तो ।

— दशवैकालिक

: ६ :

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।

तं पि संजम-लजट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

— दशवैकालिक

अपरिग्रह

: १ :

संसार के सब जीवों को जकड़ने वाले परिग्रह से बढ़कर कोई दूसरा पाश अर्थात् जाल—बन्धन नहीं ।

: २ :

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वही ममत्व का त्याग कर सकता है । वस्तुतः वही संसार-भीरु (मोक्षमार्ग का द्रष्टा) साधक है, जिसे किसी प्रकार का ममत्व नहीं है ।

: ३ :

चावल, जौ, सोना और पशुओं सहित समूची पृथ्वी भी एक मनुष्य के सन्तोष के लिए पर्याप्त नहीं है । यह जान कर मनुष्य तप-संयम (सन्तोष) धारण करे ।

: ४ :

जब व्यक्ति देव-मनुष्य-सम्बन्धी समस्त भोगों से विरक्त हो जाता है, तो वह बाहर और अन्दर के सब परिग्रह को छोड़ कर आत्म-साधना में जुट जाता है ।

: ५ :

वस्तुतः भूच्छा ही परिग्रह कहा जाता है ।

: ६ :

मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एक-मात्र संयम-रक्षा के निमित्त हैं । उनके रखने में किसी प्रकार की परिग्रह-बुद्धि नहीं है ।

१४० : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: ७ :

सठवारंभ-परिच्छाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ।

— उत्तराध्ययन

: ८ :

अवि अप्पणो पि देहम्मि, नाऽऽयरंति ममाईयं ।

— दशवैकालिक

: ९ :

सुवण्ण-रूवस्स उ पव्वया भवे ।

सिया हु केलाससमा असंखया ।

नरस्स लुद्धस्स न तेहि किञ्चि,

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।

— उत्तराध्ययनसूत्र

: १० :

ममत्तभावं न कहिंपि कुज्जा ।

— दशवैकालिक चूर्णि

: ११ :

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ

— उत्तराध्ययन

: १२ :

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो ।

लोहो हओ जस्स न किञ्चनाइ ॥

— उत्तराध्ययन

: ७ :

इस प्रकार से अहिंसक तथा निर्ममत्व होना बड़ा ही दुष्कर है ।

: ८ :

सच्चे साधक, और तो क्या अपने शरीर तक पर ममत्व नहीं रखते हैं ।

: ९ :

कैलाश पर्वत के समान कदाचित् सोने और चाँदी के असंख्य पर्वत भी पास में हों, तो भी लोभी मनुष्य की वृत्ति के लिए वे नगण्य हैं । क्योंकि वृष्णा आकाश के समान अनन्त है ।

: १० :

कहीं भी ममस्वभाव नहीं करना चाहिए ।

: ११ :

ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ पैदा होता है । वास्तव में लाभ होने पर लोभ बढ़ता है ।

: १२ :

जिसको लोभ नहीं होता, उसको वृष्णा नष्ट हो जाती है । और, जो अकिञ्चन (अपरिग्रह) है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।

धैराग्य

: १ :

सोही उज्जुभयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते य पावए ॥

— उत्तराध्ययन

: २ :

जीविशं चेव रूवं च, विज्जुसंपाय-चंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसि राय, पेच्चत्थं नावबुज्झसि ॥

— उत्तराध्ययन

: ३ :

जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं ।
अदु इखिणियाउ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ।

— सूत्रकृतांग

: ४ :

जेण सिया तेण णो सिया,
इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोह-पाउडा ।

— आचारांग

: ५ :

जह तुब्भे तहं अम्हे, तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे ।
अब्भाहेइ पडंतं, पंडुअ - पत्तं किसलयाणं ॥

— अनुयोगद्वार

: १ :

वैराग्य

सरल आत्मा शुद्ध होती है, और शुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है। घृत - सिंचित अग्नि की तरह प्रदीप्त शुद्ध साधक ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

: २ :

मनुष्य का जीवन और रूप - सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चंचल है। राजन् ! आश्चर्य है, फिर भी तुम इस पर मुग्ध हो रहे हो ! परलोक की ओर क्यों नहीं निहारते ?

: ३ :

जो मनुष्य दूसरे का तिरस्कार करता है, वह चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। पर-निन्दा पाप का कारण है, यह समझकर साधक अहंभाव का पोषण नहीं करते।

: ४ :

तुम जिनसे सुख की आशा रखते हो, वस्तुतः वे सुख के कारण नहीं हैं। मोह से घिरे हुए लोग इस बात को नहीं समझते।

: १५ :

पीला पत्ता जमीन पर गिरता हुआ अपने साथी पत्तों से कहता है—“आज जैसे तुम हो, एक दिन मैं भी ऐसा ही था, और आज जैसा मैं हूँ, एक दिन तुम्हें भी ऐसा ही होना है।”

१४४ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: ६ :

जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नो वि पत्थए ।
दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तथा ॥

—आचारांग

: ७ :

धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्सं मरियव्वं
तम्हा अवस्स-मरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥

— मरण-समाधि

: ८ :

लाभोलाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तथा ।
समो निंदा-पसंसासु, तथा माणावमाणओ ॥

— उत्तराध्ययन

: ९ :

असंखयं जीवियं मा पमायए,
जरोवणीअस्स हु नत्थि ताणं ।

: १० :

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

— आचारांग

: ११ :

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा ।

— सूत्रकृतांग

: ६ :

साधक न तो जीवित रहने की इच्छा करे और न शीघ्र मरना ही चाहे। जीवन तथा मरण किसी में भी आशक्ति न रखे।

: ७ :

धीर पुरुष को अवश्य मरना है, और कायर पुरुष को भी अवश्य मरना है। जब मरण अनिवार्य है, फिर तो धीर पुरुष की तरह प्रशस्त मौत से मरना ही बेहतर है।

: ८ :

सच्चा साधक लाभ - अलाभ, सुख - दुःख, निन्दा-प्रशंसा और मान - अपमान में सम रहता है।

: ९ :

यह जीवन असंस्कृत है, बृढ़ापा आने पर कोई भी इसकी रक्षा करने वाला नहीं है।

: १० :

प्रमत्त को सब ओर से भय रहता है, अप्रमत्त को किसी ओर से भी भय नहीं है।

: ११ :

सब स्थानों में, सब समय पाप, कषाय आदि से विरक्त रहना चाहिए।

१४६ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

समता :

: १ :

समयाए समणो होइ ।

— उत्तराध्ययन

: २ :

समयाए धम्मे आरिएहि पवेइए ।

— आचारांग

: ३ :

सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए ।

: ४ :

सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्स वि तो करेज्जा

— सूत्रकृतांग

: ५ :

जो उवसमइ अत्थि तस्स आराहणा ।

जो ण उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा ।

उवसमसारं खु सामण्णं ।

— बृहत्कल्पसूत्र

: ६ :

जो समो सव्वभुएसु तसेसु थावरेसु य तस्स सामाइयं होई

— आवश्यकसूत्र

समता

: १ :

समता से ही श्रमण होता है।

: २ :

आर्य-पुरुषों ने समभाव में ही धर्म कहा है।

: ३ :

समभाव उसी को रह सकता है, जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है।

: ४ :

समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय। अर्थात् वह सम्बन्धों को कर अपने-पराये की भेदबुद्धि से परे होता है।

: ५ :

जो कषाय को शान्त करता है, वही आराधक है। जो कषाय को शान्त नहीं करता, वह उसको आपराधन नहीं करता। श्रमणत्व का सार उषम (शान्ति) है।

: ६ :

जो अस और स्थावरसमस्त प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी की समता—सामायिक होती है।

: ७ :

णिमम्मो णिरहंकारो णिस्संगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ॥
लाभालाभे सुहे, दुक्खे, जीविए मरणे तथा ।
समो णिदापसंसासु, तथा मागावमाणए ॥
गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु य ।
णियत्तो हाससोगाओ, अणियाणो अबंधणो ॥
अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासी - चंदणकप्पो य, असणे अणसणे तथा ॥

— उत्तराध्ययन

: ८ :

सव्व - भूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ ।

— दशवैकालिक

: ९ :

समया सव्वत्थ सुव्वते ।

: १० :

समयं सया चरे ।

— सूत्रकृतांग

: ७ :

जिसमें ममता न हो, अहंकार न हो, जो आसक्ति-रहित हो, गौरव (महत्वाकांक्षा) से रहित हो, और त्रस-स्थावर सभी प्राणियों पर सम ही। जो लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मृत्यु में, निन्दा और प्रशंशा में तथा सम्मान और अपमान में सम हो। जो महत्ता से, कषायों से, दंड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त हो, मिदान से दूर हो, बन्धन से दूर हो। जिसकी इह लोक में भी कोई आसक्ति न हो, परलोक में भी आसक्ति न हो, तथा जो बसूले से शरीर को काटने वाले पर भी और चन्दन का लेप लगाने वाले पर भी समभावी हो। अशन और अमशन (उपवास) दोनों में उसकी समता है। ऐसा साधक ही वास्तव में समत्वयुक्त होता है।

: ८ :

जो सब प्राणियों को आत्मवत् देवता है, समस्त प्राणियों के प्रति समदर्शी है, आश्रवों को रोक लेता है, इन्द्रियों का दमन कर लेता है, वह समत्व-साधक पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

: ९ :

इन्द्रियों का दमन और कषायों का शमन करने वाले सुव्रती साधक में सर्वत्र समता होनी चाहिए।

: १० :

सदा समता का आचरण करे।



१५० : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

मोक्ष

: १ :

अरइ आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के ।

— आचारांग

: २ :

आयाणं निसिद्धा सगडब्धि ।

— आचारांग

: ३ :

साणं च दंसणं चैव, चरित्तं तवो तथा ।

एस मग्गु त्ति पण्णत्तो, जिणेहि वरदरिसिहि ॥

— उत्तराध्ययन

: ४ :

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सइहे ।

चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥

— उत्तराध्ययन

: ५ :

आदंसणिसस नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।

अग्गुणिसस नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स तिग्वाणं ॥

— उत्तराध्ययन

: ६ :

को दुक्खं पाविज्जा, कस्स य सुक्खेहि विम्हओ हुज्जा ।

को वा न लभिज्ज मुक्खं, रागदोसा जइ न हुज्जा ॥

— मरण-समाधि

मोक्ष

: १ :

जो साधक अरति को दूर करता है, वह क्षण-भर में मुक्त हो जाता है ।

: २ :

भावी कर्मों का आश्रय रोकने वाला साधक पूर्व-संचित कर्मों का भी क्षय कर देता है ।

: ३ :

सर्वदर्शी ज्ञानियों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है ।

: ४ :

साधक ज्ञान से यथार्थ तत्त्वों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र्य के द्वारा उन्हें ग्रहण करता है, और तप से परिशुद्ध होता है ।

: ५ :

श्रद्धा-हीन को ज्ञान नहीं होता, ज्ञान-हीन को आचरण नहीं होता, आचरण-हीन को मोक्ष नहीं मिलता, और मोक्ष पाये बिना निर्वाण—पूर्ण शान्ति नहीं मिलती ।

: ६ :

यदि राग-द्वेष न हों, तो संसार में न कोई दुःख पाए और न कोई सुख पा कर विस्मित ही हो, प्रत्युत सब मुक्त हो जायँ ।

१५२ : महावीर : सिद्धान्त और उपदेश

: ७ :

जया संवरमुक्किट्टं, धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहि - कलुसं कडं ॥

— दशवैकालिक

: ८ :

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसि पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धि गच्छइ नीरओ ॥

: ९ :

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धि गच्छइ नीरओ ।
तया लोग - मत्थयत्थो, सिद्धो ह्वइ सासओ ॥

— दशवैकालिक

: १० :

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएण,
एगंतसोक्खं समुत्तेइ मोक्खं ।

— उत्तराध्ययन

: ११ :

तं ठाणं सासथं वासं, जं संपत्ता न सोयंति ।

— उत्तराध्ययन

: ७ :

जब साधक उत्कृष्ट, अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब आत्मा पर से अज्ञान-कालिमाजन्य कर्मरज को झाड़ देता है ।

: ८ :

जब मन, वचन और शरीर के योगों का निरोध कर आत्मा शैलेशी अवस्था को पाती है - पूर्णतः स्पन्दन रहित हो जाती है, तब वह कर्मों का क्षय कर सर्वथा मल-रहित हो कर सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त होती है ।

: ९ :

जब आत्मा समस्त कर्मों को क्षय कर, सर्वथा मलरहित हो कर सिद्धि (मोक्ष) को पा लेती है, तब लोक के अग्रभाग पर स्थिति हो कर सदा के लिए सिद्ध हो जाती है ।

: १० :

ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग और द्वेष के क्षय से, आत्मा एकान्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करती है ।

: ११ :

वह स्थान (मोक्ष) शाश्वत वास है, नित्य है, अक्षय है, अप्रतिपाती है, निराबाध - सुखयुक्त है, जिसे प्राप्त होने पर साधक सदा के लिए शोक रहित हो जाता है ।



यह पुस्तक.....

‘महावीर सिद्धान्त और उपदेश’
अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक
है। संक्षिप्त, किन्तु मार्मिक शैली
में एक महापुरुष के जीवन और
कार्यों का सार प्रस्तुत करने में
लेखक ने अनुपम सफलता प्राप्त
की है। मेरी सम्मति में इस
अकेली पुस्तक से जैन-धर्म के
मूल तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया
जा सकता है। लेखक और प्रकाशक
को भूरि-भूरि वधाई !

आगरा कॉलेज,
आगरा, मई. ६०

डॉ. कमलेश

